आधुनिक निबन्ध साहित्य

(Modern Essay Literature)

कीर्ति शिखर

आधुनिक निबन्ध साहित्य

आधुनिक निबन्ध साहित्य
(Modern Essay Literature)

कीर्ति शिखर

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5624-0

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से निबंध लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। निबंध ही नहीं, गद्य की कई विधाओं का प्रचलन भारतेन्दु से होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि गद्य और उसकी विधाएँ आधुनिक मनुष्य के स्वाधीन व्यक्तित्त्व के अधिक अनुकूल हैं। मोटे रूप में स्वाधीनता आधुनिक मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इस भाव के कारण परम्परा की रूढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामयिक परिस्थितियों का दबाव अनुभव होता है। भविष्य की संभावनाएँ खुलती जान पड़ती हैं। इसी को इतिहास-बोध कहा जाता है। भारतेन्दु युग का साहित्य इस इतिहास-बोध के कारण आधुनिक माना जाता है।

सारी दुनिया की भाषाओं में निबंध को साहित्य की सृजनात्मक विधा के रूप में मान्यता आधुनिक युग में ही मिली है। आधुनिक युग में ही मध्ययुगीन धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का द्वार दिखाई पड़ा है। इस मुक्ति से निबंध का गहरा संबंध है।

निबंध का आरंभ कैसे हो, बीच में क्या हो और अंत किस प्रकार किया जाए, ऐसे किसी निर्देश और नियम को मानने के लिए निबंधकार बाध्य नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि निबंध एक उच्छृंखल रचना है और निबंधकार एक उच्छृंखल व्यक्ति। निबंधकार अपनी प्रेरणा और विषय वस्तु की

संभावनाओं के अनुसार अपने व्यक्तित्त्व का प्रकाशन और रचना का संगठन करता है। इसी कारण निबंध में शैली का विशेष महत्त्व है।

निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**निबन्ध**	**1**
	निबंध की विशेषता	2
	हिन्दी साहित्य में निबन्ध	3
2.	**भारतेन्दु हरिश्चंद्र**	**4**
	जीवन परिचय	5
	साहित्यिक परिचय	6
	प्रमुख कृतियाँ	7
	वर्ण्य विषय	9
	महत्वपूर्ण कार्य	12
	साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास	14
3.	**प्रताप नारायण मिश्र**	**25**
	जीवनी	25
	रचनाएँ	27
	वर्ण्य-विषय	27
	भाषा	28
	शैली	28
	समालोचना	29
	आकाशवाणी	31

4. बालकृष्ण भट्ट **47**
कार्यक्षेत्र 48
प्रमुख कृतियाँ 48
भाषा 49
वर्ण्य विषय 49
शैली 50
महाभारत के समय का भारत 51
आत्मत्याग 60
आदि मध्य अवसान 62
आय-व्यय 65
आशा 67
5. बालमुकुंद गुप्त **71**
जीवनी 71
रचनाएँ 72
निबंध 83
6. पूर्णसिंह **88**
जीवन परिचय 89
कृतियाँ 91
मजदूरी और प्रेम 91
गड़रिये का जीवन 93
मजदूरी और कला 97
मजदूरी और फकीरी 98
समाज का पालन करने वाली दूध की धारा 100
पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श 102
आचरण की सभ्यता 103
7. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी **112**
जीवनी 112
कार्य 113
भाषा-शैली 115
आज के युग में गुलेरी जी की प्रासंगिकता 116
कछुआ-धरम 118

मारेसि मोहिं कुठाँउ 122
8. हजारीप्रसाद द्विवेदी 127
रचनाएँ 128
महापुरुषों का स्मरण (1977) 130
रचनात्मक वैशिष्ट्य 131
9. रामचन्द्र शुक्ल 153
जीवन परिचय 153
कृतियाँ 154
क्लिष्ट और जटिल 156
सरल और व्यावहारिक 156
शैली 157
10. कुबेर नाथ राय 165
जीवन-परिचय 165
रचनाएँ 166
निषाद बाँसुरी 167
उत्तराफाल्गुनी के आसपास 185
भाषा बहता नीर 195

1

निबन्ध

निबन्ध गद्य लेखन की एक विधा है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग किसी विषय की तार्किक और बौद्धिक विवेचना करने वाले लेखों के लिए भी किया जाता है। निबंध के पर्याय रूप में सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जाता है। लेकिन साहित्यिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित शब्द निबंध ही है। इसे अंग्रेजी के कम्पोजीशन और एस्से के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत में भी निबंध का साहित्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या की जाती थी। उनमें व्यक्तित्त्व की विशेषता नहीं होती थी। किन्तु वर्तमान काल के निबंध संस्कृत के निबंधों से ठीक उलटे हैं। उनमें व्यक्तित्त्व या वैयक्तिकता का गुण सर्वप्रधान है।

इतिहास-बोध परम्परा की रूढ़ियों से मनुष्य के व्यक्तित्त्व को मुक्त करता है। निबंध की विधा का संबंध इसी इतिहास-बोध से है। यही कारण है कि निबंध की प्रधान विशेषता व्यक्तित्त्व का प्रकाशन है।

निबंध की सबसे अच्छी परिभाषा है–

1. निबंध, लेखक के व्यक्तित्त्व को प्रकाशित करने वाली ललित गद्य-रचना है।
2. इस परिभाषा में अतिव्यापित दोष है। लेकिन निबंध का रूप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इतना स्वतंत्र है कि उसकी सटीक परिभाषा करना अत्यंत कठिन है।

निबंध की विशेषता

सारी दुनिया की भाषाओं में निबंध को साहित्य की सृजनात्मक विधा के रूप में मान्यता आधुनिक युग में ही मिली है। आधुनिक युग में ही मध्ययुगीन धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का द्वार दिखाई पड़ा है। इस मुक्ति से निबंध का गहरा संबंध है।

ललित अत्री जी,, के अनुसार-

नए युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है वे व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज है।

इस प्रकार निबंध में निबंधकार की स्वच्छंदता का विशेष महत्त्व है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है

निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

इसका तात्पर्य यह है कि निबंध में किन्हीं ऐसे ठोस रचना-नियमों और तत्त्वों का निर्देश नहीं दिया जा सकता जिनका पालन करना निबंधकार के लिए आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि निबंध एक ऐसी कलाकृति है जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। निबंध में सहज, सरल और आडम्बरहीन ढंग से व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार

लेखक बिना किसी संकोच के अपने पाठकों को अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी, उसका निबंध पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयता के फलस्वरूप निबंध-लेखक पाठकों को अपने पांडित्य से अभिभूत नहीं करना चाहता।

इस प्रकार निबंध के दो विशेष गुण हैं-

(1) व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति

(2) सहभागिता का आत्मीय या अनौपचारिक स्तर

निबंध का आरंभ कैसे हो, बीच में क्या हो और अंत किस प्रकार किया जाए, ऐसे किसी निर्देश और नियम को मानने के लिए निबंधकार बाध्य नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि निबंध एक उच्छृंखल रचना है और निबंधकार एक उच्छृंखल व्यक्ति। निबंधकार अपनी प्रेरणा और विषय वस्तु की संभावनाओं के अनुसार अपने व्यक्तित्त्व का प्रकाशन और रचना का संगठन करता है। इसी कारण निबंध में शैली का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से निबंध लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। निबंध ही नहीं, गद्य की कई विधाओं का प्रचलन भारतेन्दु से होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि गद्य और उसकी विधाएँ आधुनिक मनुष्य के स्वाधीन व्यक्तित्त्व के अधिक अनुकूल हैं। मोटे रूप में स्वाधीनता आधुनिक मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इस भाव के कारण परम्परा की रूढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामयिक परिस्थितियों का दबाव अनुभव होता है। भविष्य की संभावनाएँ खुलती जान पड़ती हैं। इसी को इतिहास-बोध कहा जाता है। भारतेन्दु युग का साहित्य इस इतिहास-बोध के कारण आधुनिक माना जाता है।

2

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850-6 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी

किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

जीवन परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 9 सितम्बर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास'उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुई। उनके पूर्वज अंग्रेज-भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेन्दु ने साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु' (भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक

1. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)
2. सत्य हरिश्चन्द्र (1875,नाटक)
3. श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)
4. विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)
5. भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),
6. नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।
7. अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)
8. प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)
9. सती प्रताप (1883,अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिरूपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)

अनुदित नाट्य रचनाएँ

1. विद्यासुन्दर (1868,नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)
2. पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)
3. धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)
4. कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)
5. भारत जननी (1877,नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाता' के हिंदी अनुवाद पर आधारित)
6. मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)
7. दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)

निबंध संग्रह

1. नाटक
2. कालचक्र (जर्नल)

3. लेवी प्राण लेवी
4. भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?
5. कश्मीर कुसुम
6. जातीय संगीत
7. संगीत सार
8. हिंदी भाषा
9. स्वर्ग में विचार सभा
10. काव्यकृतियां
11. भक्तसर्वस्व (1870)
12. प्रेममालिका (1871),
13. प्रेम माधुरी (1875),
14. प्रेम-तरंग (1877),
15. उत्तरार्द्ध भक्तमाल (1876-77),
16. प्रेम-प्रलाप (1877),
17. होली (1879),
18. मधु मुकुल (1881),
19. राग-संग्रह (1880),
20. वर्षा-विनोद (1880),
21. विनय प्रेम पचीसा (1881),
22. फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)
23. प्रेम फुलवारी (1883)
24. कृष्णचरित्र (1883)
25. दानलीला
26. तन्मय लीला
27. नये जमाने की मुकरी
28. सुमनांजलि
29. बन्दर सभा (हास्य व्यंग)
30. बकरी विलाप (हास्य व्यंग)
31. कहानी
32. अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न
33. यात्रा वृत्तान्त

34. सरयूपार की यात्रा
35. लखनऊ
36. आत्मकथा
37. एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती

उपन्यास

1. पूर्णप्रकाश
2. चन्द्रप्रभा

वर्ण्य विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं-

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान–भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा-

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान– भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं -

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण– प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्म पूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अतः उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं-

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था। फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यवहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली -शृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली - भक्ति के पदों में,
3. व्यंग्यात्मक शैली - समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‌बोधन शैली - देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चैती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।

महत्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वे बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। वे हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेन्दु अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं सम्पूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था –

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होने कहा–

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो–चार आने कौन देगा, और साधारण–सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया–आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब–किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होने एक व्यंग्य कविता लिखी–

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।

चरब-जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होने तदीय समाज की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

हमलोग सर्वान्तर्यामी, सब स्थल में वर्तमान, सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु

ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त, मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था–

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन (ड्रेन ऑफ वेल्थ) के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंगरेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आहवान किया था–

भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आहवान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से

भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए–

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्‌टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्‌ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्‌टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्‌टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्‌टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्‌टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करें? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णत: खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया,

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा,

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है–

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दु:ख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है–

आज बड़े आनंद का दिन है कि छोटे से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को एक बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देश में जो कुछ हो जाए वही बहुत है। बनारस ऐसे-ऐसे बड़े नगरों में जब कुछ नहीं होता तो हम यह न कहेंगे कि बलिया में जो कुछ हमने देखा वह बहुत ही प्रशंसा के योग्य है। इस उत्साह का मूल कारण जो हमने खोजा तो प्रगट हो गया कि इस देश के भाग्य से आजकल यहाँ सारा समाज ही एकत्र है। राबर्ट साहब बहादुर ऐसे कलेक्टर जहाँ हो वहाँ क्यों न ऐसा समाज हो। जिस देश और काल में ईश्वर ने अकबर को उत्पन्न किया था उसी में अबुलफजल, बीरबल,टोडरमल को भी उत्पन्न किया। यहाँ राबर्ट साहब अकबर हैं, जो मुंशी चतुर्भुज सहाय, मुंशी

बिहारीलाल साहब आदि अबुलफजल और टोडरमल हैं। हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी है। यद्यपि फर्स्ट क्लास, सैकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े-बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी है पर बिना इंजिन सब नहीं चल सकती वैसी ही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए 'का चुप साधि रहा बलवाना' फिर देखिए हनुमानजी को अपना बल कैसे याद आता है। सो बल कौन याद दिलावे। हिंदुस्तानी राजे-महाराजे, नवाब, रईस या हाकिम। राजे-महाराजों को अपनी पूजा, भोजन, झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सरकारी काम घेरे रहता है कुछ बाल-घुड़दौड़, थियेटर में समय लगा। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब, गंदे, काले आदमियों से मिल कर अपना अनमोल समय खोवें। बस यही मसल रही–

''तुम्हें गैरों से कब फुरसत, हम अपने गम से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली''

तीन मेंढ़क एक के ऊपर एक बैठे थे। ऊपर वाले ने कहा, 'जौक शौक', बीच वाला बोला, 'गम सम',सब के नीचे वाला पुकारा, 'गए हम'। सो हिंदुस्तान की प्रजा की दशा यही है 'गए हम'। पहले भी जब आर्य लोग हिंदुस्तान में आकर बसे थे राजा और ब्राह्मणों के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावें और अब भी ये लोग चाहें तो हिंदुस्तान प्रतिदिन क्या प्रतिछिन बढ़े। पर इन्हीं लोगों को निकम्मेपन ने घेर रखा है। 'बोद्धारो मत्सरग्रस्ता: प्रभव: समर दूषिता:' हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरुखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ कर बाँस की नालियों से जो तारा, ग्रह आदि बेध कर के उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपए की लागत से विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को वेध करने में भी ठीक वही गति आती है और अब आज इस काल में हम लोगों की अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं जब हम लोग निरी चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अंग्रेज, फ्रांसिस आदि तुरकी-ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सब के जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिंदू का टियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते

हुए दौड़ते देख कर के भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जाएगा फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकेगा। लूट की इस बरसात में भी जिस के सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर आज कुछ कहो कि हिंदुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है। भला इस विषय पर मैं और क्या कहूँ भागवत में एक श्लोक है – 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारं मयोनुकूलेन तपः स्वतेरितं पुमान भवाब्धि न तरेत स आत्महा।' भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है सो मिला और उस पर गुरु की कृपा और उस पर मेरी अनुकूलता। इतना सामान पाकर भी मनुष्य इस संसार सागर के पार न जाए उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए, वही दशा इस समय हिंदुस्तान की है। अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर, अवसर पा कर भी हम लोग जो इस समय उन्नति न करें तो हमारे केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है। सास और अनुमोदन से एकांत रात में सूने रंग महल में जाकर भी बहुत दिनों से प्राण से प्यारे परदेसी पति से मिल कर छाती ठंडी करने की इच्छा भी उसका लाज से मुँह भी न देखे और बोले भी न तो उसका अभाग्य ही है। वह तो कल परदेस चला जाएगा। वैसे ही अंग्रेजों के राज्य में भी जो हम मेंढ़क, काठ के उल्लू, पिंजड़े के गंगाराम ही रहें तो फिर हमारी कमबख्त कमबख्ती फिर कमबख्ती ही है। बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती, बाबा, हम क्या उन्नति करें।

तुम्हारा पेट भरा है तुम को दून की सूझती है। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ किया। क्या इंग्लैंड में किसान, खेत वाले, गाड़ीवान, मजदूर, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देश में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते, किंतु वे लोग जहाँ खेत जोतते-बोते हैं वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी कौन नई कल व मसाला बनावें जिससे इस खेत में आगे से दूनी अनाज उपजे। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अखबार पढ़ते हैं। जब मालिक उतरकर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखबार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पिएगा या गप्प करेगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहाँ के लोग गप्प ही में देश के प्रबंध छाँटते हैं। सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाए। उसके

बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस्य यहाँ इतनी बढ़ गई कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला –

''अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥''

चारों ओर आँख उठाकर देखिए तो बिना काम करने वालों की ही चारों ओर बढ़ती है। रोजगार कहीं कुछ भी नहीं है अमीरों, मुसाहिबी, दल्लालों या अमीरों के नौजवान लड़कों को खराब करना या किसी की जमा मार लेना इनके सिवा बतलाइए और कौन रोजगार है जिससे कुछ रुपया मिले। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है किसी ने बहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुंबी इस तरह अपनी इज्जत को बचाता फिरता है जैसे लाजवंती बहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाए जाती है। वही दशा हिंदुस्तान की है। मुर्दम-शुमारी का रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन-दिन यहाँ बढ़ते जाते हैं और रुपया दिन-दिन कमती होता जाता है। सो अब बिना ऐसा उपाय किए काम नहीं चलेगा कि रुपया भी बढ़े और वह रुपया बिना बुद्धि के न बढ़ेगा। भाइयों, राजा-महाराजों का मुँह मत देखो। मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में ऐसा उपाय बतलाएँगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, कब तक अपने को जंगली, हूस, मूर्ख, बोदे, डरपोक पुकरवाओगे। दौड़ो इस घुड़दौड़ में, जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है। 'फिर कब-कब राम जनकपुर एहै' अब की जो पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे। जब पृथ्वीराज को कैद कर के गोरे ले गए तो शहाबुद्दीन के भाई गयासुद्दीन से किसी ने कहा कि वह शब्दबेधी बाण बहुत अच्छा मारता है। एक दिन समय नियत हुई और सात लोहे के तावे बाण से फोड़ने को रखे गए। पृथ्वीराज को लोगों ने पहिले से ही अंधा कर दिया था। संकेत यह हुआ कि जब गयासुद्दीन 'हूँ' करे तब वह तावे पर बाण मारे। चंद कवि भी उसके साथ कैदी था। यह सामान देख कर उसने यह दोहा पढ़ा –

'अब की चढ़ी कमान को जाने फिर कब चढ़े।
जिन चूके चहुआज इक्के मारय इक्क सर।'

उसका संकेत समझ कर जब गयासुद्दीन ने 'हूँ' किया तो पृथ्वीराज ने उसी को बाण मार दिया। वही बात अब है। 'अब की चढ़ी' इस समय में सरकार का राज्य पाकर और उन्नति का इतना सामान पाकर भी तुम लोग अपने को न सुधारों तो तुम्हीं रहो और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में

उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल चलन में, शरीर में,बल में, समाज में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब आस्था, सब जाति,सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों। चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहें या नंगा कहें, कृस्तान कहें या भ्रष्ट कहें तुम केवल अपने देश की दीन दशा को देखो और उनकी बात मत सुनो। अपमान पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः स्वकार्य साधयेत धीमान कार्यध्वंसो हि मूर्खता। जो लोग अपने को देश-हितैषी मानते हों वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कस के उठो। देखा-देखी थोड़े दिन में सब हो जाएगा। अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ-वहाँ से पकड़ कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्याभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ की काँटा हों उनकी जड़ खोद कर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ, दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जाएँगे, दरिद्र न हो जाएँगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जाएँगे तब तक कोई देश न सुधरेगा।

अब यह प्रश्न होगा कि भई हम तो जानते ही नहीं कि उन्नति और सुधारना किस चिड़िया का नाम है। किस को अच्छा समझे। क्या लें क्या छोड़ें तो कुछ बातें जो इस शीघ्रता से मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ सुनो -

सब सुन्नियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो अंग्रेजों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली है इससे उनकी दिन-दिन कैसी उन्नति हुई है। उनको जाने दो अपने ही यहाँ देखो। तुम्हारे धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति समाजगठन वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो-एक मिसाल सुनो तुम्हारा बलिया के मेला का यहीं स्थान क्यों चुना गया है जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते। दस-दस, पाँच-पाँच कोस के लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक दूसरे का दुःख-सुख जानें। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नहीं मिलतीं यहाँ से ले जाएँ। एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिसमें महिने में दो-एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाए। गंगाजी नहाने जाते हैं तो पहले पानी सिर पर चढ़ा कर तब पैर पर

डालने का विधान क्यों है? जिससे तलुए से गरमी सिर पर चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने सालभर में एक बार तो सफाई हो जाए। होली इसी हेतु है कि बसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि जलने से स्वच्छ हो जाए। यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है। ऐसे ही सब पर्व, सब तीर्थ, व्रत आदि में कोई हीकमत है। उन लोगों ने धर्मनीति और समाजनीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। खराबी जो बीच में हुई वह यह है कि उन लोगों ने ये धर्म क्यों मानने लिखे थे। इसका लोगों ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयों, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरणकमल का भजन है। ये सब तो समाज धर्म है। जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी खराबी यह हुई कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप-दादों का मतलब न समझकर बहुत से नए-नए धर्म बना कर शास्त्रों में धर दिए बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बार आँख खोल कर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनाई और उनमें देश और काल के अनुकूल और उपकारी हों उनका ग्रहण कीजिए।

बहुत-सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी जाती हैं, किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको मत चलाइए। जैसा जहाज का सफर, विधवा-विवाह आदि। लड़कों की छोटेपन ही में शादी करके उनका बल,बीरज, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ-बाप हैं या शत्रु हैं। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए। नोन, तेल लकड़ी की फिक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन प्रथा,बहु विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए किंतु इस चाल में नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल-धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें। वैष्णव, शास्त्र इत्यादि नाना प्रकार के लोग आपस में बैर छोड़ दें यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए जाति में कोई चाहे ऊँचा हो, चाहे नीचा हो सबका आदर कीजिए। जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए,छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए। मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बस कर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़

दें। ठीक भाइयों की भाँति हिंदुओं से बरताव करें। ऐसी बात जो हिंदुओं का जी दुखाने वाली हो न करें। घर में आग लगे सब जिठानी, देवरानी को आपस का डाह छोड़ कर एकसाथ वह आग बुझानी चाहिए। जो बात हिंदुओं को नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनके जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक-टोक नहीं, फिर भी बड़े ही सोच की बात है कि मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी। अभी तक बहुतों को यही ज्ञात है कि दिल्ली,लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो, वे दिन गए। अब आलस, हठधरमी यह सब छोड़ो। चलो हिंदुओं के साथ तुम भी दौड़ो एक-एक-दो होंगे। पुरानी बातें दूर करो। मीर हसन और इंदरसभा पढ़ा कर छोटेपन ही से लड़कों का सत्यानाश मत करो। होश संभाला नहीं कि पढ़ी पारसी, चुस्त कपड़ा पहनना और गजल गुनगुनाए -

''शौक तिल्फी से मुझे गुल की जो दीदार का था।
न किया हमने गुलिस्ताँ का सबक याद कभी॥''

भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यों न बिगड़ेंगे। अपने लड़कों को ऐसी किताबें छूने भी मत दो। अच्छी से अच्छी उनको तालीम दो। पेंशन और वजीफे या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की आदत दिलाओ। सौ-सौ महलों के लाड़-प्यार, दुनिया से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ।

भाई हिंदुओं, तुम भी मतमतांतरों का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिंदुस्तान में रहे चाहे किसी जाति, किसी रंग का क्यों न हो वह हिंदू है। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमानों सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिससे तुम्हारे यहाँ बढ़े तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। देखा जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैंड, फ्रांसिस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दिआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लकलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैंड का है। फ्रांस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने जल रही है। यह तो वही मसल हुई एक बेफिकरे मंगती का कपड़ा पहिन

कर किसी महफिल में गए। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा – अजी अंगा तो फलाने का है, दूसरा बोला अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँस कर जवाब दिया कि घर की तो मूछें ही मूछें हैं। हाय अफसोस तुम ऐसे हो गए कि अपने निज की काम के वस्तु भी नहीं बना सकते। भाइयों अब तो नींद से जागो। अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो। वैसे ही खेल खेलो। वैसा बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो अपने में अपनी भाषा में उन्नति करो।

3

प्रताप नारायण मिश्र

प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु मण्डल,, के प्रमुख लेखक, कवि और पत्रकार थे। वह भारतेंदु निर्मित एवं प्रेरित हिंदी लेखकों की सेना के महारथी, उनके आदर्शो के अनुगामी और आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माणक्रम में उनके सहयोगी थे। भारतेंदु पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी, वह अपने आप को उनका शिष्य कहते तथा देवता की भाँति उनका स्मरण करते थे। भारतेंदु जैसी रचनाशैली, विषयवस्तु और भाषागत विशेषताओं के कारण मिश्र जी 'प्रति-भारतेंदु' और 'द्वितीय हरिश्चंद्र' कहे जाने लगे थे।

जीवनी

मिश्र जी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के अंतर्गत बैजे गाँव निवासी, कात्यायन गोत्रीय, कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं. संकठा प्रसाद मिश्र के पुत्र थे। बड़े होने पर वह पिता के साथ कानपुर में रहने लगे और अक्षरारंभ के पश्चात उनसे ही ज्योतिष पढ़ने लगे। किंतु उधर रुचि न होने से पिता ने उन्हें अंग्रेजी स्कूल में भरती करा दिया। तब से कई स्कूलों का चक्कर लगाने पर भी वह पिता की लालसा के विपरीत पढ़ाई-लिखाई से विरत ही रहे और पिता की मृत्यु के पश्चात् 18-19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्कूली शिक्षा से अपना पिंड छुड़ा लिया।

इस प्रकार मिश्रजी की शिक्षा अधूरी ही रह गई। किंतु उन्होंने प्रतिभा और स्वाध्याय के बल से अपनी योग्यता पर्याप्त बढ़ा ली थी। वह हिंदी, उर्दू और बँगला तो अच्छी जानते ही थे, फारसी, अँगरेजी और संस्कृत में भी उनकी अच्छी गति थी।

मिश्र जी छात्रावस्था से ही 'कविवचनसुधा' के गद्य-पद्य-मय लेखों का नियमित पाठ करते थे, जिससे हिंदी के प्रति उनका अनुराग उत्पन्न हुआ। लावनी गायकों की टोली में आशु रचना करने तथा ललितजी की रामलीला में अभिनय करते हुए उनसे काव्यरचना की शिक्षा ग्रहण करने से वह स्वयं मौलिक रचना का अभ्यास करने लगे। इसी बीच वह भारतेंदु के संपर्क में आए। उनका आशीर्वाद तथा प्रोत्साहन पाकर वह हिंदी गद्य तथा पद्य रचना करने लगे। 1882 के आसपास 'प्रेमपुष्पावली' प्रकाशित हुई और भारतेंदु जी ने उसकी प्रशंसा की तो उनका उत्साह बहुत बढ़ गया।

15 मार्च 1883 को, होली के दिन, अपने कई मित्रों के सहयोग से मिश्रजी ने 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र निकाला। यह अपने रूप-रंग में ही नहीं, विषय और भाषाशैली की दृष्टि से भी भारतेंदु युग का विलक्षण पत्र था। सजीवता, सादगी, बाँकपन और फक्कड़पन के कारण भारतेंदुकालीन साहित्यकारों में जो स्थान मिश्रजी का था, वही तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता में इस पत्र का था, किंतु यह कभी नियत समय पर नहीं निकलता था। दो-तीन बार तो इसके बंद होने तक की नौबत आ गई थी। इसका कारण मिश्रजी का व्याधिमंदिर शरीर और अर्थाभाव था। रामदीन सिंह आदि की सहायता से यह येनकेन प्रकारेण संपादक के जीवनकाल तक निकलता रहा। उनकी मृत्यु के बाद भी रामदीन सिंह के संपादकत्व में कई वर्षों तक निकला, परंतु पहले जैसा आकर्षण उसमें न रहा।

1889 में मिश्र जी 25 रू. मासिक पर 'हिंदोस्थान' के सहायक संपादक होकर कालाकाँकर आए। उन दिनों पं. मदनमोहन मालवीय उसके संपादक थे। यहाँ बालमुकुंद गुप्त ने मिश्रजी से हिंदी सीखी। मालवीय जी के हटने पर मिश्रजी अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण वहाँ न टिक सके। कालाकाँकर से लौटने के बाद वह प्रायः रुग्ण रहने लगे। फिर भी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कार्यों में पूर्ववत रुचि लेते रहे और 'ब्राह्मण' के लिए लेख आदि प्रस्तुत करते रहे। 1891 में उन्होंने कानपुर में 'रसिक समाज' की स्थापना की। कांग्रेस के कार्यक्रमों के अतिरिक्त भारतधर्ममंडल, धर्मसभा, गोरक्षिणी सभा और अन्य

सभा-समितियों के सक्रिय कार्यकर्ता और सहायक बने रहे। कानपुर की कई नाट्य सभाओं और गोरक्षिणी समितियों की स्थापना उन्हीं के प्रयत्नों से हुई थी।

मिश्रजी जितने परिहासप्रिय और जिंदादिल व्यक्ति थे उतने ही अनियमित, अनियंत्रित, लापरवाह और काहिल थे। रोग के कारण उनका शरीर युवावस्था में ही जर्जर हो गया था। तो भी स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का वह सदा उल्लंघन करते रहे। इससे उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। 1892 के अंत में वह गंभीर रूप से बीमार पड़े और लगातार डेढ़ वर्षो तक बीमार ही रहे। अंत में 38 वर्ष की आयु में 6 जुलाई 1894 को दस बजे रात में भारतेंदु मंडल के इस नक्षत्र का अवसान हो गया।

रचनाएँ

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु के विचारों और आदर्शों के महान प्रचारक और व्याख्याता थे। वह प्रेम को परमधर्म मानते थे। हिंदी, हिंदू, हिदुस्तान उनका प्रसिद्ध नारा था। समाजसुधार को दृष्टि में रखकर उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे हैं। बालकृष्ण भट्ट की तरह वह आधुनिक हिंदी निबंधों की परंपरा को पुष्ट कर हिंदी साहित्य के सभी अंगों की पूर्णता के लिये रचनारत रहे। एक सफल व्यंग्यकार और हास्यपूर्ण गद्य-पद्य-रचनाकार के रूप में हिंदी साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। मिश्र जी की मुख्य कृतियाँ निम्नांकित हैं–

(क) नाटक–गो संकट, भारत दुर्दशा, कलिकौतुक, कलिप्रभाव, हठी हम्मीर। जुआरी-खुआरी (प्रहसन)। संगीत शाकुंतल (कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतम्' का अनुवाद)।

(ख) निबंध संग्रह निबंध नवनीत, प्रताप पीयूष, प्रताप समीक्षा

(ग) अनुदित गद्य कृतियाँ-राजसिंह, अमरसिंह, इन्दिरा, राधारानी, युगलांगुरीय, चरिताष्टक, पंचामृत, नीतिरत्नमाला,बात

(घ) कविता–प्रेम पुष्पावली, मन की लहर, ब्रैडला स्वागत, दंगल खंड, तृप्यन्ताम्, लोकोक्तिशतक, दीवो बरहमन (उर्दू)।

वर्ण्य-विषय

मिश्रजी के निबंधों में विषय की पर्याप्त विविधता है। देव-प्रेम, समाज-सुधार एवं साधारण मनोरंजन आदि मिश्रजी के निबंधों के मुख्य विषय थे। उन्होंने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र में हर प्रकार के विषय पर निबंध लिखे। जैसे - घूरे के

लत्ता बीने-कनातन के डोल बांधे, समझदार की मौत है,आप, बात, मनोयोग, बृद्ध, भौं, मुच्छ, ह, ट, द आदि।

मिश्रजी 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' के कट्टर समर्थक थे, अतः उनकी रचनाओं में इनके प्रति विशेष मोह प्रकट हुआ है।

भाषा

खड़ीबोली के रूप में प्रचलित जनभाषा का प्रयोग मिश्रजी ने अपने साहित्य में किया। प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। भाषा की दृष्टि से मिश्रजी ने भारतेंदु का अनुसरण किया और जन साधारण की भाषा को अपनाया। भारतेंदुजी के समान ही मिश्रजी भाषा की कृत्रिमता से दूर रहे। उनकी भाषा स्वाभाविक है। उसमें पंडिताऊपन और पूर्वीपन अधिक है तथा ग्रामीण शब्दों का प्रयोग स्वच्छंदता पूर्वक हुआ है। संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग है। भाषा विषय के अनुकूल है। गंभीर विषयों पर लिखते समय भाषा और गंभीर हो गई है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग में मिश्रजी बड़े कुशल थे। मुहावरों का जितना सुंदर प्रयोग उन्होंने किया है, वैसा बहुत कम लेखकों ने किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है।

शैली

मिश्रजी की शैली वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा हास्य-व्यंग्यात्मक है।

विचारात्मक शैली- साहित्यिक और विचारात्मक निबंधों में मिश्रजी ने इस शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं इस शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट भी मिलता है। इस शैली की भाषा संयत और गंभीर है। 'मनोयोग' शीर्षक निबंध का एक अंश देखिए-इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है। और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छ रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है।

व्यंग्यात्मक शैली - इस शैली में मिश्रजी ने अपने हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंध लिखे हैं। यह शैली मिश्रजी की प्रतिनिधि शैली है, जो सर्वथा उनके अनुकूल है। वे हास्य-विनोद प्रिय व्यक्ति थे। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन हास्य और विनोदपूर्ण ढंग से करते थे। हास्य और विनोद के साथ-साथ इस शैली में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विषय के अनुसार व्यंग्य कहीं-कहीं बड़ा तीखा और मार्मिक

हो गया है। इस शैली में भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी है। उसमें उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग के कारण यह शैली अधिक प्रभावपूर्ण हो गई है। एक उदाहरण देखिए–दो–एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमत सीख लो और कुछ अपनी ओर से झपकी–फुंदनी जोड़ कर उसी की जूती उसी का सर कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा और चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे।

समालोचना

मिश्रजी भारतेंदु मंडल के प्रमुख लेखकों में से एक हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। वे कवि होने के साथ–साथ उच्चकोटि के मौलिक निबंध लेखक और नाटककार थे। हिंदी गद्य के विकास में मिश्रजी का बड़ा योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल जी ने पं. बालकृष्ण भट्ट के साथ मिश्रजी को भी महत्व देते हुए अपने हिंदी–साहित्य के इतिहास में लिखा है– पं0 प्रतापनारायण मिश्र और पं0 बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

लत (चलती–फिरती बोली में)–प्रतापनारायण मिश्र

अहा! इन द्वै अखरानऊ मैं कैसो सवाद है कै कछू बोलते चालत नाय बने! एक बार हमारे प्यारे 'हिंदीप्रदीप' ने लिखी ही कै 'ल' (लकार) सगरी वर्णमाला को अमृत है और व्याकरण वारे कहैं हैं कै 'त' (श्तकारश) और 'लकार' दोऊ मुख के एकई स्थान तो कढ़ै हैं – 'लृतुलसा दंत्या'। फेर यामैं कहा संदेह रह्यौ कै या शब्द में द्वै–द्वै अमृतन को मेल है (कोऊ समय 'त' कार कोऊ गुण लिखैंगे)।

जब एक अमृत को सवाद मनुष्य न को दुर्लभ है तब द्वै अमृतन की तो बात ही कहाँ रही? जा काऊ को काऊ बात की लत पड़ जाए है वाय अपनी लत के आगे लोक परलोक, हानि–लाभ, निंदा बड़ाई आदि कों नेकऊ विचार नाएँ रहै है। लोग बड़े–बड़े कष्ट उठावैं हैं, सारे संसार सो आपको हँसावैं हैं, पै लत को निभावै हैं। यासों सिद्ध है कै लत मैं कछू तौ मिठास है जाके लिए सब प्रकार के दुख सुख सों सहे जाए हैं।

पारसी में ऐसे नाम बहुत से हैं जिनके पीछे लत की लगी है। पै सबके वर्णन को या छोटे से पत्र में ठौर कहाँ? तहूँ द्वै चार को नमनों दिखाय दिंगे। दौलत

(धन) कों तौ कहनोई कहा है। नारायण की घर वारी (लक्ष्मी) ही ठैरी! सारे जगत को काम याई सों चलै है। भाँति-भाँति के पाप पुण्य याई के हेत करे जाएँ हैं। बड़े-बड़े अधमन को याई के लिए धरमावतार बनायबे परै है। जाए देखौ याई के कारन हाय-हाय कियो करै है। सौलत (दबदबा, प्रताप) - याऊ के निमित्त बड़े-बड़े बीर अपनी जान जोखौं में डारै हैं।

अदालत की कथा ही अकथ है। भाई-भाई की बात नाय सहै पै एक-एक चपरासी की लातऊ प्यारी लगै। सारी कमाई एक बात पै स्वाहा! सब जानै हैं कै जीत्यो सो हार्यौ और हार्यौ सो मर्यौ पै अदालत की बुरी लत बहुतेरन को। कछु निज को काम नाएँ होय है तौ औरन को तमासाई देखबे को धूप मैं धावै हैं। इत उत माँ ऊ 'कहा भयो कहा गयो' करत डोलै हैं। फजीलत (विद्वत्ता) की चाट पै लोग सारे सुखन को होम करि कै पढ़बेई मैं जीवन बिताय देतु हैं। जिल्लत (बदनामी) सगरो धन और सारी प्रतिष्ठा खोईबोई सों मिलै है।

कहाँ लौं कहिए, जा शब्द मैं लत को जोग होय वामै बड़ी ही बड़ी बातैं दीखैं हैं। फेर 'लत' को वर्णन सहज कैसे कह्यों जाए। संसार में बड़ी-बड़ी बातन को मूल लतई है! बड़ो नाम, बड़ो जस, बड़ो धन, बड़ो पद, बड़ो सुख, बड़ो दुख, बडो अजस, सब लत सोई प्राप्त होय है। परमेश्वर को नाना प्रकार की सृष्ठि रचने की लत है। उनको कुछु प्ररोजन नाएँ पै एक को बनावै हैं। एक को नसावैं हैं याई लत के मारे ज्ञानीन में जगतपिता, प्रेमीन में जगजीवन कहावै हैं। पढ़े लिखेन में पूजे जाए हैं। गवाँरन की गारी खाय हैं।

पानी बहुत बरसै तौ मूरख कहिंगे, 'सारे के घर मैं पानी ही पानी है गयो है'। जब नाएँ बरसे तब कहै हैं कै 'नपूतो सूख गयो है।' धन्य रे नंद के छोरा! गारिऊ खाय है पै लत नाएँ छोड़े है। हमारे रिसीन कों भगवान के भजन और जगत के उपकार की लत परी ही, जाके मारे सारे सुखन को छोड़ि, संसार सों मुख मोड़ि, कंद मूल खाय-खाय बन में जाए रहे है। याई के फल सों ब्रह्मय कहावे है। आज ताऊँ हम उनके नाम सुन नार (ग्रीवा) नमावें हैं और उनके उपदेशन पर चलन बारे अपनो जनम बनावै हैं। हमारी सरकार और माड़वारीन को कमायबेई की लत है। कोई कछु कहे पे वे एक न एक रीति सो अपनोई घर भरिगे जिनको खुशामद की लत है वे हजूर की हाँ में हाँ मिलायोई करिंगे, देश सारी चाहे आज धूर में मिल जाए, प्रजा चाहे याई घरी नास है जाए, राजा चाहे भलेई अजस पावे, संसार चाहे कछू कहे कहावै पै लत तौ मरबेई पै छूटे तौ छूटे।

हमारे हिंदू भाईन कों आलस की ह्याँ ताऊँ लत है के लाख समुझावों पे सोयबो छोड़ेइँ नाएँ। चौबेन भाँग की है, गुसाँइन को मरकबे की लत है। धनीन को टेंटँई (वेश्या) की लत है, बाबून को अँगरेज बनबे की लत है। कहाँ लौं कहैं, एक-एक लत सबको परी है, पे हाय, देशसुधार की लत साँची-साँची काऊ को नाएँ दीखे। तन, मन, धन, कर्म, लज्जा, प्रतिष्ठा सब सों अधिक भारत को माने जमाना, मैया जा दिना देशहित के लती उपजावेगी, वाई दिना सब संकट कटेगो।

हे दऊदयाल! हमारे भाई कहा मुख ही सों देशहित के गीत गायो करिंगे। इन्हें ऐसी बुद्धि कब देउगे के सगरो धन खोय के, जात बाहर होय के, देश विदेश जाए के, सबन की गारी लौं खाय के, देशी बिदेशी राजा प्रजा सबके कड़ुवे बनेंगे पे प्रान लौं देके भारत के हेत सब कुछ करिंगे। हम कौ लिखबे की लत है, खायबे को चाहे भलेई न मिलौ, साल में घटी मितनिई परौ, कोई रीझौ तौ वाह-वाह, खीझौ तौ वाह-वाह, पे कलम राँड चले बिना मानेई नाएँ! कोई सुनौ के न सुनौ पे हमें तौ बलबे की लत है, यासों कहेई जाएगे के जाए भेले कामन की लत परेगी, राधारानी बाई को भलो करेंगी। सब सों भली देशभक्ति है, जाए याकी लत नाएँ वाके जीवन पर लानत (लअनत) है।

आकाशवाणी

प्रतापनारायण मिश्र

हमारे मिस्टर अंगरेजीबाज और उसके गुरु गौरंडाचार्य्य में यह एक बुरा आरजा है कि जो बात उनकी समझ में नहीं आती उसे, वाहियात है (ओह नांसेंस), कह के उड़ा देते हैं। नहीं तो हमारे शास्त्रकारों की कोई बात व्यर्थ नहीं है। बहुत छोटी-छोटी बातें विचार देखिए। पयश्राव के समय यज्ञोपवीत कान में चढ़ाना इसलिए लिखा है कि लटक के भीग न जाय। तिनका तोड़ने का निषेध किया है, सो इसलिए कि नख में प्रविष्ट होके दु:ख न दे। दाँत से नख काटना भी इसी से वर्जित है कि जिंदा नाखून कट जाएगा तो डॉक्टर साहब की खुशामद करनी पड़ेगी।

अस्तु यह रामरसरा फिर कभी छेड़ेंगे, आज हम इतना कहा चाहते हैं कि पुराणों में बहुधा लिखा है कि अमुक अकाशबाणी हुई। इस पर हमारे प्यारे बाबू साहबों का, 'यह नहीं होने सकता' इत्यादि कहना व्यर्थ है। इस्से उनकी

अनसमझी प्रगट होती है। क्योंकि आकाश अर्थात पोपालन के बिना तो कोई शब्द हो ही नहीं सकता। इस रीति से वचन मात्र को आकाशबाणी कह सकते हैं, और सुनिए, चराचर में व्याप्त होने के कारण ईश्वर को आकाश से एक देशी उपमा दी जा सकती है।

बेद में भी 'खम् ब्रह्म' लिखा है और प्रत्येक आस्तिक का मंतव्य है कि ईश्वर की प्रेरणा बिना कुछ हो ही नहीं सकता। पत्ता कहीं हुक्म बिना हिला है? तो संसार भर की बातें आकाशवत् परमात्मा की प्रेरित नहीं हैं तो क्या हैं? शब्द ब्रह्म और खम् ब्रह्म इन दोनों बातों का ठीक-ठीक समझने वाला आकाशबाणी से कैसे चकित होगा? यदि डियर सर (प्रिय महाशय) आस्तिक न हों तौ भी यों समझ सकते हैं कि हृदय का नाम आकाश है, क्योंकि वह कोई दृश्य वस्तु नहीं है, न तत्व सम्मेलन से बना है। एक विज्ञानी से किसी ने पूछा था कि हृदय क्या है - उसने उत्तर दिया - छव उंजजमत अर्थात वह किसी वस्तु से बना नहीं है और यह तो प्रत्यक्ष ही है, यावत संकल्प विकल्प हैं सबका आकाश उसी में है।

हमारी भाषा कवियों के शिरोमुकुट गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हृदयाकाश माना है 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकाशा।' इस वाक्य में यदि हृदय को आकाश न कहें तो दयारूपी चंद्रमा का प्रकाश कहाँ ठहरे? अतः हृदय में हर्ष शोक चिंतादि के समय जितनी तरंगे उठती हैं, सब आकाशबाणी (अवाजे गैब) हैं। यह तो हमारे यहाँ का मुहावरा है। समझदार के आगे कह सकते हैं कि अमुक पुरुष अपने प्रियतम के वियोग में महा शोकाकुल बैठा था इतने में उसे आकाशबाणी हुई कि रोने से कुछ न होगा। उससे मिलने का यत्न करो। ठीक ऐसे ही अवसरों पर आकाशबाणी होना लिखा है। जिसे कुछ भी बुद्धि संचालन का अभ्यास है वह भलीभाँति समझ सकता है। हमारे उर्दू के कवि भी बहुधा किसी पुस्तक के व किसी स्मरणीय घटना के सम्वत् लिखने (कितए तारीख) में कहा करते हैं, 'हातिफे गैब ने कहा नागाह काले साहब की सुर्ख पाया, फिक्रे तारीख जब हुई दरपेश।' 'गैब से मुझको यह निंदा आई' इत्यादि एक नहीं लाखों उदाहरणों से सिद्ध है कि एशिया के ग्रंथकार मात्र अंत-करण को आकस्मातिक, गति को आकाशबाणी कहते हैं।

किसी देशभाषा के आर्ष प्रयोग के बिना समझे, बिना किसी विद्वान से पूछे, हँस देना मूर्खता की पहिचान है। यदि कोई अंगरेज कहे 'ठमससल ीं दव मलमे' तो हमारे स्कूल के छात्र भी हँस सकते हैं कि कौन नहीं जानता कि पेट

में आँखें नहीं होतीं। साहब बहादुर ने कौन बड़ी विलक्षण बात कही। यह तो एक बच्चा भी जानता है। पर हाँ जब उसे समझा दिया जाएगा कि उक्त बात का यह अर्थ है कि गरजमंद को कुछ नहीं सूझता तब किसी को ठट्टा मारने का ठौर नहीं रहेगा। इसी भाँति हमारे यहाँ की प्रत्येक बात का अभ्यांतरिक अर्थ जाने बिना कसी को अपनी सम्मति देने का अधिकार नहीं है।

कुछ समझ में आया? अब न हमारे पूर्वजों के कथन पर कहना कि 'बेउकूफ थे, कहीं ऐसा भी हो सकता है' नहीं तो हम भी कहेंगे कि '3है। जानै न बूझै कठौता लैकै जूझै।' हि हि हि हि!

आप

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप 'ब्राह्मण'-संपादक हैं अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब हैं, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं? यह तो प्रश्न की कोई रीति ही नहीं है। वाह महाशय! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुंटिहई अंगरखी (मीरजई), सीधी माँग, बिलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साहबनी हवस ही कहे देती है - कि

'किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए'

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा? इसीलिए कि देखें कि आप 'आप' का ज्ञान रखते हैं वा नहीं? जिस आपको आप अपने लिए तथा औरों के प्रतिदिन रात मुँह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या हैं? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, वह, यह आदि हैं वैसे ही आप भी हैं, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्दशास्त्र ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता वा प्रीत सूचित करने के अर्थ में कुत्ते के संबोधन की नकल है, हम तुम संस्कृत के अहं, त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है?

किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि 'आप लफ्ज या अरबीस्त' अथवा 'ओरू इटिज ऐन इंग्लिश वर्ड'। जब यह नहीं है तो खामखाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर, मूड़-गौड़ भी है कि यों ही? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा-'आप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत'' तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथवा प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है। जैसे 'पानी उतरि गा तरवारिन को उई करछुलि के मोल बिकाएँ' तथा पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिसुओं ते (बेश्या से भी) बहि जाए' और फारसी में 'आवरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवैगा, पर खींच-खाँच कर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, बारि, अंबु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं, उनका प्रयोग क्यों नहीं करते 'आप' ही के सुर्खाब का पर कहाँ लगा है? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण बृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप-आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या हमको मुँह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जाएगे, और फिर कभी यह शब्द मुँह पर न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप-आप की बोली बोलते ही नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे। पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायत वालों के आगे आप-आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया पर वह 'आप' थे, क्यों मानने

लगे! इस पर हमें झुँझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और आप का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि 'आपकी ऐसी तैसी'। यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेमशास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, बरंच नहीं के बराबर होता है।

हिंदी कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आपको न चाहै ताकि बाप को न चाहिए'। पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है और न इसका आशय स्नेह संबद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कहा मारा हो तो यह काई नहीं कह सकता कि कविता में भी आप की पूछ है। दूसरी घनानंद जी की यह सवैया है – 'आप ही तौ मन हेरि हर्यौ तिरछे करि नैनन नेह के चाव में' इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालंभ है, इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में 'आप' का अदर नहीं है, 'तू' ही प्यारा है।

संस्कृत फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते, पर इससे आपको क्या मतलब? आप अपनी हिंदी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहाँ तक कि न्याय शास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्दबद्ध करते हैं।

इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्तशब्द उसके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता। इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यंत आदर का द्योतन करने के काम में आता है। 'तुम अहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह सज्जन हैं' – ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' हो जाए, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाए कि, 'आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं, इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हो तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझ सकेंगे कि आप संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है, और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है, जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहें बात करने वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रुपता कहीं लेने भी नहीं जानी पड़ती, पर ब्राह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वो कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य संपादित हो जाएगा। 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपा जी भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरती के अब्ब (पिता, बोलने में अब्बा) और योरोपिय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं।

हमारे प्रांत में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है। पर उनकी यह समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा और हिंदू संतान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अँगरेजों की तकार और फारस वालों की टकार नहीं है कि मुँह से ही न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात स्थूलांगी स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाए। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हाँ आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा। क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नहीं होती।

सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व फकार से बदल देते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में बकार भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब बवक्ते शब तथा तंग आमद-बतंग आमद इत्यादि, और शब्द के आदि कोह स्व अकार का कोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथ में देखो)]स्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले]स्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। अथच]स्व को दीर्ध, दीर्ध को]स्व अ, इ, उ आदि की वृद्धि वा लोप भी हुवा ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय वा आप ही उलट-फेस से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न कि आप क्या हैं? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं? हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि 'आप को हैं? कहाँ के हैं?' यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी में कह लेंगे, 'शाब! आप न समझो तो आपा को के पड़ी छै।' ऐं! अब भी नहीं समझे? वाह रे आप!

ईश्वर की मूर्ति

वास्तव में ईश्वर की मूर्ति प्रेम है, पर वह अनिर्वचनीय, मूकास्वादनवत्, परमानंदमय होने के कारण लिखने वा कहने में नहीं आ सकता, केवल अनुभव का विषय है। अतः उसके वर्णन का अधिकार हमको क्या किसी को भी नहीं है। कह सकते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि हृदय मंदिर को शुद्ध करके उसकी स्थापना के योग्य बनाइए और प्रेम दृष्टि से दर्शन कीजिए तो आप ही विदित हो जाएगा कि वह कैसी सुंदर और मनोहर मूर्ति है। पर यह कार्य सहज एवं शीघ्र प्राप्य नहीं है। इससे हमारे पूर्व पुरुषों ने ध्यान धारण इत्यादि साधन नियत कर रक्खे हैं जिनका अभ्यास करते रहने से उसके दर्शन में सहारा मिलता है। किंतु है यह भी बड़े ही भारी मस्तिष्कमानों का साध्य। साधारण लोगों से इसका होना भी कठिन है। विशेषतः जिन मतवादियों का मन भगवान् के स्मरण

में अभ्यस्त नहीं है, वे जब आँखें मूँद के बैठते हैं तब अंधकार के अतिरिक्त कुछ नहीं देख सकते और उस समय यदि घर गृहस्थी आदि का ध्यान न भी करैं तौ भी अपनी श्रेष्ठता और अन्य प्रथावलंबियों की तुच्छता का विचार करते होंगे अथवा अपनी रक्षा वा मनोरथ सिद्धि इत्यादि के मानस से परमात्मा की भी सुध करते हों तो करते हों, नहीं तो केवल मुख से कुछ नियत शब्दों का उच्चारण छोड़ कर ईश्वर का वास्तविक भजन पूजन यदि एक मिनिट भी करते हों तो हमारा जिम्मा। कारण इसका यह है कि मनुष्य का मन होता है चंचल। वह जब तक किसी बहुत ही सुंदर वा भयंकर वस्तु अथवा व्यक्ति वा सुख दुखादि की ओर न चला जाए तब तक एकाग्र कदापि नहीं होता। हाँ, बड़े-बड़े योगी अभ्यास करते-करते उसे स्वेच्छानुवर्ती बना सकते होंगे, पर अपने सहबर्तियों में तो हम किसी का सामर्थ्य नहीं देखते कि संगीत साहित्य सुरा सौंदर्य इत्यादि की सहायता के बिना कोई मन को एक ओर कर सकता हो, विशेषत: ईश्वर की ओर, जिसकी सभी बातें मन बुद्धि चित्त अहंकार से परे हैं।

फिर हम क्यों न कहें कि प्रतिमा पूजन के विरोधी ईश्वर का पूजन तो क्या दर्शन भी नहीं कर सकते। विचार कर देखिए तो प्रतिमा पूजन से नास्तिकों के अतिरिक्त बचा कोई भी नहीं है। जो ईश्वर को मानेगा उसका निर्वाह किसी न किसी प्रकार की प्रतिमा के बिना नहीं हो सकता चाहे ध्यानमयी प्रतिमा हो चाहे शब्दमइयी प्रतिमा हो, हैं सब हमारे ही मन और वचन का विकास और उस निराकार निर्विकार के महत्व का अभ्यास मात्र। पर क्या कीजिए ईश्वर को मान कर चुपचाप बैठे रहें अथवा मन में किसी भाँति उसका विचार आने ही न दें तौ भी नहीं बनता। इसीसे आस्तिक मात्र को उसकी प्रतिमा बनानी पड़ती है। जहाँ हमने मन अथवा वचन से कहा - 'हे प्रभु हम पर दया करो,' वहीं हम उस निराकार की छाती के भीतर मन की कल्पना कर चुके। क्योंकि मन न होगा तो दया ठहरेगी कहाँ, और शरीर न होगा तो मन रहेगा कहाँ? जिस समय हम कहते हैं कि 'हे नाथ! हमारी रक्षा करो, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं' उस समय उस अप्रतिम के अस्तित्व में हाथ और पाँव की कल्पना करते हैं क्योंकि रक्षा हाथों से की जाती है और प्रणाम चरणों पर किया जाता है। कारण के बिना कार्य का मान लेना तर्कशास्त्र के विरुद्ध है, फिर कौन निराकारवादी ईश्वर के मनरूकल्पित हस्तपदादि रचना से बच गया? पाषाण धात्वादि निर्मित मूर्ति के पूजने वालों में और इनमें केवल इतना ही अंतर है कि इनके यहाँ की ईश्वर प्रतिमा केवल मन के भाव से गढ़ी जाती है और उनके यहाँ की रजत कांचनादि से, तथा यह मन

और बचन से ईश्वर के हाथ पाँव इत्यादि स्वीकार करते हुए भी देख नहीं सकते तथा सर्वसाधारण के आगे कहते हैं कि हमारा ईश्वर निरवयव है और वह जैसा मानते हैं वैसा सबके सामने कह भी देते हैं कि भाई, हमारा ईश्वर लँगड़ा, लूला, अंधा बहिरा नहीं है, उसके कर पद नयनादि कमल के समान कोमल और सुंदर हैं। फिर मूर्तिपूजक लोग ईश्वर को कौन सी गाली देते हैं कि उन पर आक्षेप किया जाए? विचार के देखिए तो दूसरे पूजकों के देखे इनमें इतनी विशेषता है कि अन्य लोग केवल उसकी महिमा तथा अपने स्वार्थ साधनादि की प्रार्थना का केवल जबानी जमा खर्च रखते हैं।

किंतु यह मन और बचन के अतिरिक्त चंदन पुष्पादि के द्वारा तन और राग भोगादि के द्वारा धन से भी उसकी सेवा करते हैं, अपने शयन भोजनादि में भी उसका स्वामित्व बनाए रहते हैं, बरंच उसकी प्रसन्नता के लिए तीर्थ वृतादि में नाना कष्ट सहते हैं, काम पड़े तो उसके लिए प्राण तक उत्सर्ग कर देने को प्रस्तुत रहते हैं। इनके प्रेम की सच्चाई में औरंगजेब के समय मसीह नामक फारसी कवि ने साक्षी की भाँति कहा था कि अन्य धर्मियों में बहुत थोड़े लोग हैं, बरंच नहीं हैं, जो ईश्वर के नाम पर धन भी लुटा देते हों, किंतु मूर्तिपूजकों का साहस सराहने योग्य है, जो उसकी प्रतिमा पर सिर तक निछावर कर देते हैं। एक ऐसो आर्यद्वेषी यवन सम्राट को यहाँ वाले विदेशी विद्वान की लेखनी से ऐसा वचन निकलना क्या इस बात की पक्की साक्षी नहीं है कि प्रतिमापूजक ईश्वर के साथ बहुत बड़ा प्रेम संबंध रखते हैं? इन्हीं के समुदाय में ऐसे ज्ञानियों और प्रेमियों की संख्या अधिक निकलेगी जो संसार के यावत् सजीव निर्जीव पदार्थों को ईश्वर ही की मूर्ति समझते हैं। 'मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत' – इसका अभिप्राय कुतर्की लोग न समझें तो कोई हानि नहीं है, पर समझने वाले समझ सकते हैं कि जितनी मूर्तियाँ हैं वे सब ईश्वर से व्याप्त हैं और ईश्वर ही सबका एक मात्र स्वामी है।

इन दोनों रीतियों से उन्हें ईश्वर की मूर्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? और जिस ईश्वर को हम अपना प्रेमपात्र समझते हैं उसके निवासस्थान वा अधिकृत पदार्थ तथा स्मारक चिह्नों की पूजा किए बिना क्योंकर रह सकते हैं? इसके लिए बड़े-बड़े प्रमाण ढूँढ़ना भी मानो उसके सच्चे प्रेम से जी चुराना है। मजनू ने एक बार लैला के पालित कुत्ते को अपना बहुमूल्य दुशाला उढ़ा दिया था और बड़े आदर से आलिंगन किया था। इस कथानक पर केवल वही लोग हँसे तो हँसा करें जिन को मतवाद अधिक प्रिय है, किंतु जिन्हें ईश्वर प्यारा है

वे ऐसी कथाओं को बड़े आदर से सुनेंगे और मनावेंगे कि भगवान हमें भी ऐसा करे। पर जब तक हम ऐसे अधिकारी नहीं हुए तब तक यदि उन मूर्तियों का आदर करें जिनके देखने से हमें ईश्वर के रूप गुण स्वभावादिक स्मरण होता है, तो क्या बुरा करते हैं? इस पर यदि हमारे विपक्षी साहेब कहें कि – 'ऐसा है तो फिर जूता हाड़ इत्यादि को क्यों नहीं पूजते?' तो हमारा यह उत्तर कहीं नहीं गया कि पूजा का अर्थ है सत्कार, और सत्कार उसका किया जाता है जिसे देख सुन के चित्त में प्रेम और प्रसन्नता आवै।

अत: जिन्हें उक्त पदार्थों से प्रीति हो वे शौक से उन्हें पूजें पर हम तो अभी इस दर्जे को नहीं पहुँचे, हमें तो नीच प्रकृति के मनुष्यों तक से अश्रद्धा है, अस्मात् पाषाणादि मूर्तियों को पूजनीय मानेंगे, जो न कभी किसी से छल कपट करती हैं, न कुछ माँगती हैं, न कटु वाक्य निकालती हैं। बरंच सम्मुखस्था होते ही हमारे प्यारे मुरली मुकुट धनुर्वाण खंगाकुंश त्रिशूलादिधारी हृदयविहारी का स्मरण कराती हैं जिसके साथ ही हमें बीरता निर्भयता रसिकता आदि की शिक्षा प्राप्त होती है और चंदन कपूर्रादि की सुगंध से घ्राणेन्द्रिय तथा मस्तिष्क आमोदित हो जाता है, पंचामृतप्रसादादि से मुख मीठा होता है, नाना भाँति के गीत बाद्यादि से श्रवण पवित्र एवं प्रमुदित होते हैं, शृंगार की छटा तथा एक-एक अंग की शोभा से नेत्र कृतार्थ होते हैं, फिर ऐसी तत्क्षण फलदायिनी प्रतिमाओं को हम क्यों न ईश्वर की प्रतिमा मानें जिनके कारण इस गिरी दशा में भी हमारे सैकड़ों नगरों की शोभा और सहस्त्रों देशभाइयों का उपकार होता है। यदि नए मतवालों का ईश्वर इनके पूजन को अपना पूजन न समझे तो हम समझते हैं वह उन लघुबयस्का निरक्षरा सुंदरियों से भी नासमझ है जिन्हें हम दूसरों पर ढालकर अपने मन का स्नेह समझा देते हैं और वे संकेत मात्र से सब बातें समझ जाती हैं। बरंच इतर लोगों की लज्जा से बोलने का अवसर न होने पर भी हमें संतोषदायक उत्तर दे देती है।

पर ईश्वर महाराज इतना भी नहीं समझ सकते कि यह प्रतिमा को पूजता है अथवा हमको? यदि ऐसा है तो हम ऐसे समझ के शत्रु को मानना कैसा ईश्वर ही कहना नहीं चाहते। हमारा ईश्वर तो बिना कहे भी हमारे हृदयगत भाव जान लेता है। तिस पर भी जब हम यह न कह के कि – 'हे पाषाण, हमारी पूजा ग्रहण करो', यों कहते हैं कि – 'हे परमेश्वर, हमारी सेवा स्वीकार करो', तो ईश्वर क्योंकर हमें बुतपरस्त समझेगा? जब कि हमारी मूर्तियाँ ही ऐसी सुडौल सिर से पैर तक ईश्वरीय भाव से पूर्ण होती हैं तो हम क्यों न अपने ईश्वर को

उन्हीं के द्वारा रिझावें? इसपर जो लोग में हँसते हैं उन्हें पहिले अपने यहाँ की मूर्तियों को देख के लज्जित होना चाहिए जिनका वर्णन उनके मान्य ग्रंथों में ऐसा अधूरा किया गया है कि एक तो सब अंगों का बोध भी नहीं होता, केवल हाथ पाँव नेत्रादि दो चार अवयव वर्णित हैं, सो भी ऐसे अनगढ़ कि किसी पंच (हास्यजनक समाचारपत्र) में दे दिए जाए तो पाठकों को हँसाते-हँसाते लुटा दें। यहाँ हम बाइबिल और कुरान में लिखे ईश्वर के अंगों का वर्णन नहीं करते, क्योंकि एक तो उनमें केवल दो एक अंगों को छोड़ के औरों का नाम भी नहीं है। दूसरे जहाँ पर लिखा है कि ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में बनाया, हाँ यदि 'अपने' शब्द का अर्थ आदम की ओर न लगा के ईश्वर की ही ओर लगाएँ तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि आदम की सूरत सिर से पैर तक किसी भाँति अपूर्ण व अनमेल न थी।

तीसरे हमारे मुहम्मदीय और मसीहा भाई इन दिनों इस विषय में हमसे छेड़ के विवाद नहीं लेते। अतः हमें तो उनसे झगड़ना अनुचित है। पर हमारे दयानंदी हिंदू भाई इस बात का बाना बाँधे फिरते हैं। इससे हमें उनके यहाँ की कूर्तियाँ देखनी हैं। यदि वे अपने स्वामी जी के चित्र का अनादर नहीं सह सकते जिसका मूल्य छह पैसे और अधिक से अधिक दो रुपया है, तथा सुदरता भी ऐसी नहीं है जैसी हमारे रामकृष्ण्णादि की तसवीरों में होती है, और बस, किंतु हमारी स्वर्ण रजत हीरकादि की देव प्रतिमा पोप लीला है, उनका अनादर कोई बात नहीं, पर स्वामी जी क्या फोटो बड़े खूबसूरत चौकठे में बड़ी इज्जत के साथ रखना चाहिए। यों ही जहाँ वेदों में अक्षरार्थ के द्वारा कोई शंका उठावें तो छुटते ही यह उत्तर होगा कि उस रिचा का गूढ़ार्थ और है अथवा अलंकारिक वर्णन है, किंतु पुराणों में जहाँ सहज में समझने योग्य विषय न हों वहाँ गूढ़ार्थ वा अलंकारिक अर्थ कुछ नहीं है, केवल गप्पम्बर्तते। और इस पर तुर्रा यह है कि ऐसी ही समझ पर देशहित और ऐक्य प्रचार का भी दावा है।

पर हम पूछते हैं कि हठ का अबलंबन न करके कभी कोई भी देश वा जाति में एका फैला सका है कि आप ही अनोखे बन के आए हैं? हमें श्री स्वामी दयानंद सरस्वती की प्रतिकृति अथवा वेद भगवान से बैर नहीं है, पर साथ ही यह भी जिद्द नहीं है कि इनके सिवा और सब बुद्धिविरुद्ध हैं। नहीं, अपने पूर्वपुरुषों के साधारण चिह्न का भी हमें ममत्व स्वभावतः होना चाहिए यदि हम उनके संतान हैं। फिर प्रतिमा और पुराण तो उनके वर्षों के परिश्रम के फल हैं, उनका उपहास करके हम जगत एवं जगदीश्वर को क्या मुँह

दिखावैंगे? और यों तो कुतर्क के लिए सभी राहें खुली हैं। प्रतिमा और पुराण का क्या कहना है, ईश्वर और वेद पर भी आक्षेप हो सकता है। और केवल मुँह के आस्तिकों को उसका उत्तर सूझना कठिन पड़ेगा। न मानिए तो सुन लीजिए, पर उन्हीं कानों से जिनसे आप हमें पुराणों की बड़ाई सुनाना चाहते हैं। शब्दार्थ और अक्षरार्थ से अलग कोई बात कहिएगा तो हम पुराणों के मंडन में धर धमकेंगे। यह भी स्मरण रखिए कि अलंकार का नाम न लीजिएगा नहीं तो स्वामीजी के भाष्य में केवल चार पाँच ही मिलेंगे, जिनके द्वारा वेद भगवान् की सीधी सादी लेख प्रणाली में बनावट झलकने लगेगी। किंतु हम एक सौ आठ नाम और लक्षण ले बैठेंगे जिनका वेदों में पता भी न लगेगा किंतु पुराणों में अध्याय के अध्याय मिलेंगे। और उस दशा में आप तर्कशास्त्र का अवलंबन करके न बच सकिएगा, केवल काव्यशास्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा, जो आपके यहाँ यदि हैं भी तो नहीं के बराबर। पर इन बातों से हमें क्या, बिना जाने हुए विषय में जो कूदेगा वह आप हास्यास्पद होगा। अतः हम अपने प्रस्ताव में क्यों विलंब करें।

हम पर यह दोष लगाया जाता है कि सर्वव्यापी असीम परमात्मा को बित्ता दो बित्ता की मूर्ति में ठहराते हैं। पर वेदों में जहाँ विराट स्वरूप का वर्णन है वहाँ भूमि उसके चरण और सूर्य उसके नेत्र माने गए हैं। असीमता इसमें भी नष्ट हो जाती है क्योंकि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी स्कूल के बालक तक जानते हैं, वह असीमता के आगे कुछ भी नहीं है। और सुनिए, नेत्र तो हुए सूर्य, पर नेत्र के आगे ऊपर वाले अंगों (मस्तक, कपाल आदि) का नाम ही नदारद। यदि खगोल विद्या के अनुसार मान लें कि नेत्र के ऊपर वाले अंगों के स्थानापन्न वह ग्रह नक्षत्रदि हैं, जो सूर्य के ऊपर हैं तो बड़ा ही मजा हो। सूर्य के ऊपर हैं शनिश्चर, वह ईश्वर की खोपड़ी में जा बैठेंगे! कौन जाने इसी से उनका रंग काला वर्णन किया गया हो और इसीसे मतवादियों के ईश्वर की अक्ल डाँवाँडोल रहती हो! इसके सिवा 'यस्यभूमिः प्रभांतरिक्षमुतोदरम्' तथा 'यस्य सूर्यश्चक्षुरू' इत्यादि रिचाओं से भूगोल विद्या के अनुसार और भी बड़े तमाशे की बात निकलती है। अर्थात् सूर्य धरती से लाखों गुणा बड़ा है सो तो हुआ नेत्र और धरती हुई चरण जिसका वृत्त केवल पचीस सहस्त्र मील के लगभग है। इस लेखे से ईश्वर का स्वरूप 'राई भरे के बिटिया भांटा की बराबर आँख' का उदाहरण बना जाता है। इसके साथ ही जब यह लिखा देखिएगा कि एक आँख सूर्य है दूसरी चंद्रमा, जो पृथिवी से भी कहीं छोटा

है, तो हँसी रोकना मुश्किल पड़ेगा। वाह! एक आँख गल भर की, दूसरी आलपीन की नोक भर की भी नहीं! चरणारविंद ऐसे विचित्र कि एक आँख की अपेक्षा लाखों गुना छोटे और दूसरी आँख से बड़े। तिस पर भी तुर्रा यह कि आँखें भी गोल और पाँव भी गोल। भला ऐसी विचित्र मूर्ति को कौन न कहेगा कि पंच की तसवीर है। आँख की छुटाई बड़ाई का दोष 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः' वाले मंत्र में निकाल डाला गया है। पर वह दोष निकल जाने पर भी ईश्वर को मंगलमय कहते ही डरेगा क्योंकि जब सहस्त्र सिर हुए तो आँखें दो सहस्त्र चाहिए, पर यहाँ वे भी सहस्त्र ही हैं अतः मंगल स्वरूप के बदले शुक्र स्वरूप हुए जाते हैं, जो 'नमस्ते' ही भाइयों के मध्य राज्य करने के काम के हैं न कि भक्तों के समुदाय में।

इस प्रकार के कुतर्क वेदों में बहुत जगह निकल सकते हैं जिनकी अपेक्षा ईश्वर का न मानना ही भला है। पर आस्तिकों को उसके माने बिना शांति नहीं होती। इसीसे पुराणों में जहाँ कहीं उसके स्वरूप की कल्पना की गई है वहाँ तदनुरूप यथातथ्य रीति से की गई है पर जिन्हें हार जीत का व्यसन है उन्हें पराए दोष ही ढूँढ़ने में संतोष होता है। पर हमारी दृष्टि में दूसरों को कुछ कहना अपने ही ऊपर दोष लगवाना है। इससे ईश्वर के विषय में केवल इस वाक्य का अनुसरण करना श्रेयस्कर है कि 'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।' इसके अनुसार चौराहे की ईंट, मट्टी का ढेला और हीरा मोती की प्रतिमा सब ईश्वर ही की मूर्ति हैं और उन्हें जो जिस भाव से सच्चे मन के साथ पूजेगा वही अपने मनोरथ को प्राप्त करेगा। क्योंकि ईश्वर किसी रीति विशेष के हाथ बिक नहीं गया न भक्तों की मनसा के अनुकूल रूप धारण में अक्षम है। उसमें किसी शक्ति का अभाव नहीं है। पर इसमें भक्ति होनी चाहिए और यों मौखिकवाद के आगे ईश्वर ही कुछ नहीं है उसकी मूर्ति तो कहाँ से आवेगी। जब आप हमारी मूर्तियों को वैदिक प्रमाणों से पाषाण बनावेंगे तब हम भी कह देंगे कि आप प्रेममय परमात्मा को तो मानते ही नहीं, न उसका प्रेमानंद लाभ करने में यत्नवान होते हैं, केवल शास्त्रार्थ नापने के लिए 'परमेश्वर' नामक शब्द ठहरा रक्ख्खा है, जो परमेश्वर अक्षरों का विकास मात्र है, तथा जिसके विषय में श्री मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि 'देवि दैतयेश्वरः शुभस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः' पर भइया, हम तो उसकी संहारिणी आदिशक्ति को मानेंगे, आपके लिए आपकी इच्छा रही। यदि इस उत्तर से आपको क्रोध आवे तो अपने निराकार निर्विकार से हमें दंड दिलवाइए और हम अपने साकार दृश्यमान भगवत्स्वरूप से सहायता लेकर उन्हीं

के द्वारा कपाल भंजन करके तत्क्षण अपने ईश्वर की महिमा दिखा देंगे। पर यह बातें तो उस समय के लिए है जब झगड़ा खड़ा हो। नहीं तो कल्याण केवल इसमें है कि धर्म के विषय में न आप न हमसे बोलें न हम आपसे। क्योंकि वह हमारा आपका ईश्वर के साथ निज संबंध है और दो जनों के निज संबंध में अनाधिकार हस्तक्षेप करना नीचता है। इससे ईश्वर को चाहे जैसे आप मानिए चाहे जैसे हम मानें, पर अन्य सब विषयों में हम आपको और आप हमको सतचित्त से सहोदर मान के साथ दीजिए। उस दशा में यह भी संभव है कि आपका रंग हमें लगाया जाए अथवा हमारा रंग आपको लग जाए और इस रीति से मृत की भी एकता हो जाए, वा न हो तो भी परस्पर का स्नेह सुभीता तो बना ही रहेगा, जो ईश्वर का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसके द्वारा हम ईश्वर प्राप्ति विषयक अनेक विघ्नों से बच सकते हैं और प्रेमानुभव का अभ्यास करते-करते स्वयं ईश्वर की मूर्ति को देख सकते हैं।

हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार हो हीगा

सच है 'परमेश्वर की परतीत यही, मिलो चाहिए ताहि मिलावत।' जिस नागरी के लिए सहस्त्रों ऋषि वंशज छटपटा रहे हैं उसका उद्धार न हो, कहीं ऐसा भी हो सकता है? जबकि अल्प सामर्थी मनुष्य को अपने नाम की लाज होती है तो क्या उस सर्वशक्तिमान को अपनी दीनबंधुता का पक्ष न होगा? क्यों नहीं। हमारे देशभक्तों को श्रम, साहस और विश्वास चाहिए, हम निश्चयपूर्वक कहते हैं यदि हमारे आर्य भाई अधीर न होंगे तो एक दिन अवश्य होगा कि भारतवर्ष भर में नागरी देवी अखंड राज्य करेंगी और उर्दू देवी अपने सगों के घर में बैठी कोदौं दरैंगी। लोग कहते हैं, सरकार नहीं सुनती। हमारी समझ में सरकार तो सुनेगी और चार घान नाचेगी, कोई कट्टर सुनाने वाला तो हो। यदि मनसा वाचा कर्मणा सौ दो सौ मनुष्य भी यह संकल्प कर लें कि 'देवनागरी बा प्रचार ये सर्वस्व बा स्वाहा करिए' तो देखें तो सरकार कैसे नहीं सुनती। और सरकार न सुनै तो कोई तो सुनैगा। कोई न सुनै तो परमेश्वर तो अवश्यमेव सुनेगा। हमारे उत्साही बीरगण कमर बाँध के प्रयाग हिंदू समाज के सहायक तो बनें। उसके सदनुष्ठान में शीघ्रता तो करैं। यदि सच्चे हिंदू हों, यदि सचमुच हिंदी चाहते हों तो मन लगा के हिंदू समाज प्रयाग की अमृतवाणी सुनैं तो सही। कुछ सच्चा रंग तो चढै, निरंतर हिंदी का प्रचार न हो तो हम जिम्मेदार। विचार हिंदू समाज का यह है कि देश देशांतर के हिंदी रसिक प्रयागराज में एकत्र करके उनकी सम्मत्यानुसार यावत कार्य सिद्धि हो। किसी प्रकार प्रयत्न से मुँह

न मोड़ा जाए, अर्थात् स्थान-स्थान पर सभा स्थापित हों, लोकल गवर्नमेंट से निवेदन किया जाए। यदि वहाँ से सूखा उत्तर मिले तो उसी निवेदन पत्र में यथोचित बातें घटा बढ़ा के गवर्नर जेनरल को भेजा जाए। वह भी निराश रक्खें तो फिर पार्लियामेंट की शरण ली जाए। न्याय, अन्याय, दुख, सुख सब यथावतद्व विदित किए जाएँ इत्यादि इत्यादि। इस विषय में जो कुछ धन की आवश्यकता हो उसके लिए राजा व महाराजा, सेठ साहूकार इत्यादि सब आर्य मात्र से सहायता ली जाए। यही अपना कर्तव्य है। उस धर्मवीर सभा का यह वचन क्या ही प्रशंसनीय है एवं सर्वभावेन गृहणीय है कि 'हम लोगों को केवल यही प्रण रखना आवश्यक है कि जब तक इष्ट सिद्धि न होगी तब तक हम लोग किसी रीति से चुप न होंगे।'

क्यों प्यारे पाठकगण ! विचार के कहना, यदि पूर्ण रूप से ऐसा किया गया तो कोई भी सहृदय कह सकता है कि हिंदी न जारी होगी? हमारी समझ में ऐसा कोई बिरला ही गया बीता होगा जो यथा सामर्थ्य इस परमोत्तम कार्य में मन न लगावै। हाँ भाइयों! एक बार दृढ़ चित्त हो के, सेतुआ बाँध कै पीछे पड़ौ तो देखै कैसा सुख और सुयश पाते हौ। देखौं कैसे शीघ्र हमारी तुम्हारी नपुंसकता का कलंक (जो मुद्दत से लगा हुआ है) दूर होता है! इसमें अवश्य कृतकार्य होगे। देखो शुभ शकुन पहिले ही से जान पड़ने लगे कि रीवा के राज्य में नागरी प्रचलित हो गई। हम जानते हैं, अवश्य यह हमारे मान्यवर श्रीयुत पंडित हेतराम महोदय के उत्साह का फल है। फिर क्यों न हो, इस देश के मंगलकारी सदा से ब्राह्मण तो है ही। सदा से, सब सदनुष्ठानों में इस पूजनीय जाति को छोड़ कौन अग्रगामी रहा है, और है? हमको निश्चय है कि हमारे सच्चे सहायक ब्राह्मण ही हैं। विशेषत: वे सज्जन जिनको विश्वास है कि हमारा धर्म कर्म, संसार परमार्थ, मान प्रतिष्ठा, जीविका, सब कुछ हिंदी ही के साथ है तथा जो और भी महाशय हैं वे भी निस्संदेह ब्राह्मणों से किसी बात में बाहर नहीं। तो क्या सब मित्रगण हमारी न सुनैंगे? क्या सक भर हिंदू समाज का साथ न देंगे? क्या पंडितवर हेतराम दीवान साहब का अनुसरण किंचित मात्र भी न करैंगे? कदाचित कोई महानुभाव कहैं कि हम तो सब करैं, पर किस बल से? सामर्थवानों की तो यह दशा है कि महाराज कहाते हैं, ललाई पर मरे जाते हैं, पर सवा आने महीना का 'ब्राह्मण' पत्र लेते सिकोड़बाजी करते हैं। क्या इन्हीं से धन की सहायता मिलैगा? हमारे पास द्रव्य ही कितना है? इसका सच्चा उत्तर यह है कि 'सात पाँच की लकड़ी एक जने का बोझ' भी सुना है? सौ महा निर्धन भी यदि अपनी भर चंदा करते

रहैं तो एक दो लखपती को पिड़ी बोलावै। दृढ़ता चाहिए फिर कोई काम होने को न रह जाएगा! बड़ों-बड़ों को समझने में कसर न करो तो कहाँ तक जाएँगे। जब रीवा के अल्पवयस्क महाराज ने इतनी बड़ी महत कीर्ति संचित की तो क्या हमारे यावदार्यकुलदिवाकर सूर्यवंसावतंस मेवाण देशाधिपति सरीखे सर्वसद्गुणालंकृत महाराना तथा अन्यान्य आर्येन्दगण पीछे रह जाएँगे? हम तो ऐसा नहीं समझते, अतएव हिम्मत रक्खो एक दिन नागरी का प्रचार हो हीगा।

4

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (23 जून 1844- 20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पिता का नाम पं. वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे किन्तु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिंदी शब्दसागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू श्याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

उनका जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव

बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अत: सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे।

कार्यक्षेत्र

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत 1933 में प्रयाग में हिन्दीवर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की। उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था 'हिन्दी प्रदीप'। वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली-भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबन्ध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने 'सौ अजान एक सुजान', 'रेल का विकट खेल', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'बाल विवाह' तथा 'भाग्य की परख' आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रमुख कृतियाँ

भट्ट जी ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबन्ध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे।

निबन्ध संग्रह–साहित्य सुमन और भट्ट निबन्धावली।आत्मनिर्भरता (1893)

उपन्यास–नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान, रहस्यकथा

मौलिक नाटक–दमयन्ती स्वयंवर, बाल-विवाह, चन्द्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि।

अनुवाद–भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

वर्ण्य विषय

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

शैली

भट्ट जी की लेखन - शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँख', 'नाक', तथा 'कान', आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य गद्य न होकर गद्यकाव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

1. वर्णनात्मक शैली- वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली- भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली- इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए- यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड

देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली- इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान

भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यास अनुवाद विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्व हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

महाभारत के समय का भारत

महाराज रामचंद्र के समय से जब हम धर्मराज युधिष्ठिर के समय को मिलाते हैं तो देश की हर एक बातों में बड़ा अंतर पाते हैं। यद्यपि युधिष्ठिर धर्म के अवतार माने गए हैं सत्य और साधुता आदि सद्गुणों का चित्र उनके चरित्र में व्यासदेव ने भरपूर उतारा है पर महाराज रामचंद्र के अकृत्रिम सौहार्द आदि गुणों का लेश भी उस चित्र में न आ सका। श्रीरामचंद्र का समय आर्यों की पुरानी सभ्यता और उनके समस्त सद्गुणों का सूर्योदय था किंतु पांडवों का समय उस सभ्यता का मध्याह्न था। श्रीरामचंद्र के समय आर्यों के उदय देश में पंजाब, अवध या ब्रह्मावर्त और कुछ प्रांत बिहार या तिरहुत तक हुआ था। पांडवों के समय संपूर्ण भारतवर्ष में आर्य लोग फैल गए थे। अनार्य दस्यु या राक्षस रामचंद्र के समय समस्त विन्ध्य के दक्षिण के देशों में बसे हुए थे तथा बहुत बड़ा हिस्सा विन्ध्याचल के उत्तर का उन्हीं राक्षस और असुरों के अधिकार में था। मथुरा जो पांडवों के समय यादव वंशी क्षत्रियों की राजधानी थी जिसका वर्णन कवियों ने बड़े धूमधाम के साथ किया है, लवण असुर के अधिकार में थी और मथुरा के

आस-पास का भू-भाग सब उजाड़ पड़ा था। लवण भी विराध और रावण आदि राक्षसों की भाँति आदमखोर था। आदमियों को मार कर खा जाता था और जंगली मनुष्य था। शत्रुघ्न ने उसे मार कर मथुरा बसाया था। बक और हिडंब आदि राक्षस भी जिन्हें भीमसेन ने मारा है। उनके आख्यानों से मालूम होता है कि बहुत से ऐसे मनुष्य मांस भक्षक पांडवों के समय तक कहीं-कहीं बच रहे थे। बाल्मीकि के लेख से प्रकट है कि भरत जब चित्रकूट में श्रीरामचंद्र से मिलने को चले हैं तब रास्ता साफ करने वाले बहुत से लोग कुदारी और फरुसा साथ लिए रास्ता साफ करने को उनके आगे चले हैं। पांडवों के समय श्रीकृष्ण रथ पर हस्तिनापुर से द्वारिका को गए हैं।?

जिन-जिन देशों से गुजरे हैं उनके नाम दिए गए हैं। इससे सिद्ध है कि महाभारत के समय में इतनी सभ्यता लोगों में आ गई थी कि सड़क आदि का प्रबंध और टिकने की सराय इत्यादि के क्रम पर कुछ बनावें। रामचंद्र चित्रकूट से रामेश्वर तक सीता को खोजते हुए गए हैं। संपूर्ण देश का देश सिंह बाघ आदि भयंकर शिकारी जानवरों से भरा था। सैकड़ों कोस की दूरी पर अगस्त और सुतीक्ष्ण ऐसे दो एक ऋषियों का स्थान उन्हें मिला है। पांडवों के समय दक्षिण के ये सब देश आबाद हो गए थे अच्छे-अच्छे नगर और राजधानियाँ उनमें बन गई थी। भोजकट ऐसे दक्षिण के कई नगरों के नाम भारत में पाए जाते हैं और दक्षिण के कई राजे महाभारत के युद्ध में कौरव और पांडवों की कुमक को आए हैं। युद्ध शिक्षा भी पहले पूर्णता को नहीं पहुँची थी रामायण में अधिकतर पर्वत की शिला और पेड़ों की डालियों से युद्ध कहा है महाभारत के युद्ध में कैसी-कैसी ब्यूह रचना व्यासजी ने लिखा है।

रामचंद्र के समय देश का देश उजाड़ पड़ा था केवल अयोध्या, मिथिला आदि दो एक नगर थे महाभारत के समय सौ-सौ पचास-पचास कोस की दूरी पर एक-एक स्वच्छन्द राज्य और राजधानियाँ हो गई थीं। जिनमें बड़े-बड़े प्रबल शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र विद्या कुशल राजा राज करते थे। कृषि और वाणिज्य की भरपूर तरक्की थी। लोग सब भाँति मुदित प्रसन्न हृष्ट और पुष्ट थे धन संपत्ति से देश खचाखच भरा था। बौद्धों का जोर भी उस समय तक नहीं होने पाया था। ऋषियों का चलाया हुआ शुद्ध वैदिक धर्म पर लोग चल रहे थे। चारों वेद और धनुर्वेद आदि उपवेद तथा आर्य ग्रंथ का पठन-पाठन तीनों वर्ण के लोग करते थे, अब के समान तब कोई विदेशी भाषा देश में प्रचलित नहीं हुई थी। सब लोग बड़े ही पवित्र चरित्र के थे इससे Litigaton कानूनों में इस कदर हिंदी की चिंदी

नहीं होने पाई। रामचंद्र का समय सभ्यता का सूर्योदय अर्थात आदिम काल था। इससे मालूम होता है कि सभ्यता के बढ़ने से बहुत तरह की बुराइयों का अंकुर भी उस समय तक नहीं जमा था। सभ्यता के बढ़ने से सब भलाई ही हो सो नहीं बहुत सी बुराइयाँ भी फैल जाती हैं। लोगों में दमन तब विशेष था। लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को प्रजा में फैलने का अवकाश ही तब न था। इसी से रामचंद्र भरत को राज देते थे पर उसे स्वीकार न किया। युधिष्ठिर के समय सभ्यता का मध्य दिन था और सभ्यता अपनी अंतिम सीमा तक पहुँच चुकी थी इसी से लोभ आत्म सुख अभिलाषा और आपस की स्पर्द्धा इतनी बढ़ गई कि राज के लिए भाई-भाई कट मरे। पर उद्यम, साहस, धैर्य, बल, वीर्य, स्थिर अध्यवासाय आदि पौरुषेय गुणों में अंतर नहीं पड़ा था। बल्कि वे गुण बराबर बढ़ाते ही गए। बहुत तरह की नई-नई विद्या और कितने तरह के नए-नए अस्त्र-शस्त्र तथा शिल्प विज्ञान भी इस समय सभ्यता के बढ़ने के साथ ही साथ बढ़ते गए और बराबर बढ़ते जाते। पर होनहार अमिट है। महाभारत का युद्ध ऐसा सर्वनाशकारी हुआ कि भारत के पुनरुत्थान का सितारा क्रमशः डूबता ही गया। आस-पास के देश जो यहाँ चक्रवर्ती राजाओं के बाहुबल से सदा दबे रहते थे और कभी उभड़ने का मन भी न करते थे पीछे वे ही प्रांत वर्ती देश के लोग और वहाँ के सम्राट राजा जैसा सिकंदर इत्यादि प्रबल हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने लगे और उलटा भारत ही को दबाने तथा यहाँ के लोगों को अपने वंशवाद करने में कृतकार्य हुए।

महाभारत के युद्ध का धक्का यद्यपि आस-पास के देशों को भी कुछ न कुछ लगा पर वे प्रबलता में सब भाँति हम से आगे बढ़ते ही गए। टर्की, ईरान, परशिया, तुर्किस्तान, तातार आदि देश महाभारत के युद्ध के उपरांत बौद्धों के समय तक भारत के अधीन थे। क्योंकि क्षेमेंद्र ने अवदान कल्पलता में बहुत से ऐसे नाम दिए हैं, जहाँ बुद्धदेव ने जाकर अपना मत फैलाया और बौद्ध धर्म की दीक्षा लोगों को दी बहुधा वे नाम उन्हीं देश के नगरों से मिलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि इरान से सिंधु नदी के तट तक आर्यों के निवास की मुख्य भूमि थी। आतश परस्त पारसियों में जैसा आर्यों का रक्त संचालित देख पड़ता है वैसा हम हिंदुओं में नहीं है। या, यों समझिये एक ही बाप के जैसे दो पुत्र अलग-अलग दो ठौर का बसें वैसा ही ये पारसी अपनी धर्म पुस्तक जिंदावस्ता ले सर्वथा अलग हो गए यहाँ तक कि वैदिक धर्मावलंबी आर्यों ने उनसे कोई सरोकार न रखा। वेद के अनुसार चलने वाले आर्यों का दस्यु और असुरों के साथ घिस्ट-पिस्ट होने से उनके चेहरे का रंग और देह के प्रत्यंगों के संगठन में कुछ

थोड़ा अंतर पड़ गया। पर मस्तिष्क की लोकोत्तर शक्ति उनमें जैसी की तैसी बनी रही। पीछे इन्हीं वैदिक आर्यों ने इन दस्यु असुरों को भी आर्य बना लिया अब यह समस्तघ हिंदू जाति अपने को आर्य वंशी कहती है। अस्तु इन अप्रासंगिक बातों का जिक्र यहाँ इस समय छेड़ना व्यर्थ है।

इन आर्यों में मस्तिष्क की शक्ति प्रबल है सो इससे सिद्ध है कि ये जहाँ कहीं एक दो भी होंगे वहाँ समस्त जन समूह के शिक्षक नेता या प्रधान बन बैठेंगे। दंडक का बड़ा हिस्सा जनस्थान जो किसी समय इन्हीं दस्यु असुर और राक्षसों की वास भूमि थी वहाँ आर्यों में एक अगस्त जा बसे थे पर अगस्त संपूर्ण दाक्षिणात्य दस्यु और राक्षसों के पूज्य हुए रामचंद्र को भी रावण को जीतने में अगस्त से बहुत सहायता मिली। ऐसा ही सुग्रीव, जामवंत और हनुमान आदि जिन को बाल्मीकि ने रीछ और बंदर लिखा है सब के सब उन्हीं दस्युओं के फिरके के रहे होंगे। रावण और इनमें फर्क केवल इतना ही था कि ये आदमखोर न थे। दक्षिण के देशों में धरती पहाड़ी होने से अंन्न कम पैदा होता था फल और कंदमूल विशेष। सुग्रीव और जामवंत आदि कंदमूल तथा फल खाकर अपनी जिंदगी काटते थे इसी से ये रीछ और बंदरों की कोटि में शामिल कर लिए गए। रामचंद्र महाराज शुद्ध आर्यवंशी थे उन्होंने इन रीछ और बंदरों को अपना अनुयायी बनाया उनसे अपना काम निकाला। रावण को जीतने में और सीता को रावण के कैद से निकाल लाने में श्रीरामचंद्र को इन्हीं रीछ और बंदरों से बड़ी सहायता मिली। ऐसा ही पांडवों ने भी घटोत्कच आदि कई राक्षसों को अपने में मिला, उन्हें आर्य बना लिया। विराट राजा के यहाँ कीचक जिसे भीमसेन ने मारा था उन्हीं दस्युओं में था। इतिहासों को खूब टटोलो तो पता लग जाएगा कि अभी हाल के जमाने तक यह बात प्रचलित रही कि आर्य जातिवाले इन दस्यु वंशियों को बराबर अपने में मिलाते उन्हें दस्यु और किरात के आर्य करते गए। मुसलमानों के हमलों के उपरांत जित जाति Conquered Nation हो जाने से वह जोश और गरमी इनमें से निकल गई। दूसरी जातिवालों को अपने में क्या मिलाएँगे। ये खुद दूसरों का मजहब कबूल कर अन्य जातिवाले होते जाते हैं। हजारों, लाखों हिंदू मुसलमान हो गए और अब क्रिस्तान होते जाते हैं। इसी से बराबर हम इस बात को कह रहे हैं कि जब तक पौरुषेय गुण विशिष्ट जीवन और जोश तथा Nationality जातीयता का भाव किसी कौम में कायम है उस समय जो कुछ उसके मस्तिष्क से निकलेगा या जो कुछ काम वह करेगा सबों में उत्तेजना रहेगी दास हो जाने पर जो बात कोसों दूर हट जाती है। मुसलमानों के राजत्व काल

में जो ग्रंथ बने अथवा जो रीति या क्रम अपने लोगों में प्रचलित किया गया सब त्याज्य हैं। उन ग्रंथों को मानने या उन रीति या क्रम के अनुसार चलने से हम स्वराज्य के योग्य कभी नहीं होंगे।

अस्तु तो निश्चय हो गया कि महाभारत के युद्ध का समय भारत तथा आर्यों के बल और वीर्य, समृद्धि और वैभव, बुद्धितत्व, या सद्विचार प्रणाली, तथा स्थिर अध्यवसाय आदि की प्रौढ़ता का था। यदि वही हालत हिंदुस्तान की अब तक कायम रहती तो तमाम दुनियाँ का एकाधिपत्य इस समय इसे प्राप्त हो जाता किंतु अफसोस देश में संपत्ति और वैभव बढ़ने के साथ ही साथ परस्पर की स्पर्द्धा द्वेष और आत्म सुखाभिलाष उस समय इतना अधिक बढ़ गया कि जिससे हमारे अधपतन के बीज का बोना बहुत सहज हो गया। जिस समय यह युद्ध हुआ है उस समय हिंदुस्तान का कोई कोना या प्रदेश नहीं बचा था जहाँ सब तरह की पूर्ण जागृति न रही हो। इस युद्ध की हेतु भूत या प्रधान कारण कृष्ण महाराज की कुटिल पालिसी थी। भारत का कोई भाग न बच रहा था जहाँ इनकी पालिसी दुरभिसंधि का असर न पड़ा हो। कौरव और पांडव दो इस युद्ध के प्रधान नेता तो थे ही किंतु उस समय के समस्त छोटे-बड़े राजेमहाराजे इस युद्ध के किसी न किसी दल में आ शरीक हुए थे। न केवल हिंदुस्तान ही तिब्बत तातार बलख बुखारा और चीन तक के नरपाल युद्ध में कट मरे। जो भूपाल स्वयं न आए उन्होंने अपनी बहुत सी सेना और युद्धोत्साही वीरों को लड़ने के लिए भेजा। कुछ ऐसा भी मालूम होता है कि इस समय वीरता का दर्प इतना लोगों में आ समाया था कि वे अपने भुजा का बल दिखाने का मौका ढ़ूँढ़ रहे थे।

यद्यपि कंस काशीराज चेदी का राजा शिशुपाल और शाल्व आदि बहुत से राजाओं का संहार कर उस समय के युद्धोत्साही वीर क्षत्रियों में कृष्ण महाराज महामान्य हो चुके थे। इनके लिए सबसे बड़ी बात यह हो चुकी थी कि जरासंध जो उस समय एक तिहाई हिंदुस्तान अपने अधिकार में किए था और जो कई बार इन्हें हरा चुका था उसका राजनीति के द्वारा भीम से वध करा, मगध की बड़ी भारी सल्तनत तोड़ चुके थे फिर भी महाभारत के युद्ध में वीरता और युद्धोत्साह का समुद्र उमड़ रहा था। ऐसा मालूम होता है उस समय के राजा लोग और क्षत्रियों का दो दल था। एक वे थे जो स्वयं कुलीन होकर कृष्ण महाराज को सर्वश्रेष्ठ मान बैठे थे। दूसरे दलों के वे थे जो सब भाँत इनके विपक्षी थे। इनको अपने से किसी बात में उत्कृष्ट नहीं मानते थे। उन्हीं को असुर और दैत्य की पदवी दी गई। कृष्ण को क्षत्रियों के संक्षय के कलंक से बचाने को पृथ्वी

का भार उतारने का प्रतिष्ठा पत्र उन्हें दिया जाता था। किंतु ऐसे भार उतारने को कौन सराहेगा जिससे ऐसा भारी धक्का लगा कि देश फिर आज तक न पनपा। वे ही अलबत्ता सराहेंगे जिनको दुर्गति की चोट का असर बिलकुल नहीं पहुँचा जो स्वार्थी और आत्म-सुख रत हैं। इसमें संदेह नहीं श्रीकृष्ण भगवान अपनी धारणा लोकोत्तर बुद्धि से इस घोर संग्राम का जो कुछ परिणाम हुआ उसे समझे हुए थे। चाहते तो कौरव और पांडवों में मेल करा, भारत को इस महान संक्षय से बचा देते पर न जाने क्यों उनकी यह त्रिकालदर्शिता हमारे लिए सर्व नाशकारी हुई। यदि यह कहा जाय कि कृष्णचंद्र ने यह सब निज वंश यदुकुल की प्रतिष्ठा बढ़ाने को किया, सो भी नहीं हुआ। अंत में सब के सब यादवकुल वाले आपस में लड़ कट मरे। इससे सिद्ध होता है कि त्रिकालज्ञ भगवान श्रीकृष्ण ने यह सब स्वार्थ बुद्धि से नहीं किया अपितु यह दर्शाया कि प्रत्येक देश और जाति के हास और वृद्धि में Law of Compensation क्षति या हानिपूरक एक प्राकृतिक नियम सब ओर संसार भर में व्याप रहा है। जो कभी इस धरातल के एक ही भूभाग या एक ही जातिवालों को चाहे वे कैसे ही गोरे से गोरे या काले से काले क्यों न हों बराबर उन्नति या अवनति की दशा में नहीं रहने देता वरन चक्र नेमिक्रम रथ की पहिया या ऊँचा नीचा हुआ करता है।

संयोग के साथ वियोग लगा रहता है। मनुष्य ऊँचा तभी तक होता जाता है जब तक गिरता नहीं। तो किसी को अपनी तरक्की का घमंड नितांत व्यर्थ है। महाभारत का युद्ध मानो इस तरह के दर्पाधों को शिक्षा दे रहा है कि तुम चार दिन की चाँदनी के समान अपनी वर्तमान बढ़ती का घमंड न करो तुम भी एक दिन गिरोगे।

आत्म गौरव

नये और पुराने फैशन के भाँति-भाँति के पहनावे चल पड़े हैं जिसे पहन हम ऊँचे से ऊँचे दरजे के लोगों के साथ बेखटके मिलजुल सकते हैं किन्तु मन की वृत्तियों को ऊँचे दरजे पर पहुँचाने को केवल आत्मगौरव एक ऐसा पोशाक है जिसे पहन मनुष्य न केवल छोटे-बड़े सब लोगों में प्रतिष्ठा ही पाने का अधिकारी होता है वरन् नीचा काम, नीची बात, नीच आचरण से सदा अपने को बचाता रहता है। ऐसों के लिए मानहानि सबसे बड़ी हानि है। जीने से हाथ धो बैठना उनके लिये अच्छा है किन्तु अपना गौरव न रख जीना अच्छा नहीं–

'रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानुस चून।।'

जिनको अपनी प्रतिष्ठा और गौरव का खयाल है वे न केवल नीचा काम करने से अपने को अलग रखते हैं बल्कि 'आत्मोत्कर्ष विधान' अपनी तरक्की अपने निज बाहुबल से क्यों कर हो सकती है इसे भी वे ही जानते हैं। वास्तव में विचार कर देखिये तो आत्मोत्कर्ष विधान का ही एक दूसरा नाम आत्मगौरव है। बड़े कष्ट की दशा में पड़ कर भी ऐसे लोग धीरज के साथ चुपचाप अपने गिरे दिन की दुर्गति भोग लेते हैं पर मोती-सी आब नहीं गँवाना चाहते-

गरीबी और निर्धनता में तो आत्मगौरव बड़ा भारी धन है जिसने अपनी पत नहीं गँवाया और अपना गाँव बनाये हुए है। समाज में वह वैसी ही प्रतिष्ठा और इज्जत पाने का दावा रख सकता है जैसा धनी अपने असंख्य धन के द्वारा पाता है।

आत्मगौरव एक प्रकार का साधन है जिसे बचाये रखना सहज काम नहीं है। जो बुराइयों से अपने को अलग रख सके तब आत्मगौरव पाने का दावा कर सकता है। अपने आत्मगौरव का निर्बाह करने वाला मैला काम प्राण निकलने की दशा पर भी करने में सकुचायगा। अपनी बड़ी-से-बड़ी हानि सह लेगा पर उचित बात से न हटेगा। बेईमानी के अपवाद से बचने को लेन-देन में साफ रहेगा। वित्त के बाहर कोई काम न करेगा ऊपरी बनावट और जाहिरदारी को जहर के समान बरकावेगा। पक्षपात का लेश भी अपने में न होने देगा। हमारी बात कदाचित् झूठ न निकले इसलिये बिना सोचे समझे एक शब्द भी मुँह से न निकालेगा। सारांश यह कि आत्मगौरव चरित्र-संशोधन की पहिली सीढ़ी है। मनुष्य में चरित्र की पवित्रता की अन्तिम सीमा भी यही है। भलमनसाहत की कसौटी है। स्वर्गद्वार की सोपान परम्परा है। हम सबों के जीवन का उत्तम परिणाम है। सीधे और सरल मार्ग पर बेखटके चलने वाले संसारचक्र की धुरी है। इत्यादि, इत्यादि

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होय।।

ऊपर का वाक्य महात्मा कबीरदास के मन के मौज की बानगी है। ध्यान देने बात है कि दु:ख में ऐसी कौन-सी बुराई समझी जाती है कि लोग उससे दूर भागते हैं और सुख में कौन-सी ऐसी भलाई है कि सभी उसे चाहते हैं। द्वन्द्वातीतपूर्ण ज्ञानी जिन्हें ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार है उनके मत में तो दु:ख कुछ है नहीं ये दोनों केवल मान लेने की बात है। रहे अज्ञानतिमिर में टटोलने

वाले हम लोग सांसरिक जीव जो दिन-रात इसी चेष्टा में रहते हैं कि दु:ख से बचों और सुख संग्रह में मग्न रहै उन्हीं पर इस सुख-दुख का आविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है।

तो निश्चय हुआ कि वास्तव में सुख या दु:ख दोनों कुछ नहीं हैं केवल हमारे ही चित्त की दुर्बलतामात्र है। सच तो यों है कि दु:ख कभी-कभी मनुष्य को उस घनघोर महाविपत्ति की सूचना देता है इसे समूल नाश कर देता है इसलिये दु:ख जीवों का रक्षक और समूल नाश से उन्हें बचाने वाला है। जब तक दु:ख न हो तब तक सुख को कोई क्या समझ सकता है जैसे बिना गरमाहट के ठण्ड को कोई क्या जाने, कहावत भी है -

'जानै ऊख मिठास को जब मुख नोन चलाय'

मान लीजिए सब सुख ही सुख होता दु:ख का कोई नाम तक न जानता होता तो इस संसार की क्या दशा होती। मैं समझता हूँ तब यह दृश्य जगत् संसार इस नाम से कभी न कहा जाता क्यों संसार तो वही कहा जा सकता है, जो सदा एकरूप न रहे। 'संसार संपूर्वक सृ धातु से बना है जिसके माने चलने के हैं' जब सुख के कारण सब एक आकार जड़वत् हो गये तो फिर इसमें रही क्या गया बल्कि तब तो यह संसार उससे अधिक फीका होगा जितना दुखी को दु:ख की दशा में बोध होता है। दूसरे दु:ख ही, मनुष्य को उभाड़ने वाला है और अपने में उभड़ने की इच्छा ही से मनुष्य दु:ख उठाकर भी उससे परे होने की अभिलाषा रखता है। दु:ख को बरकाना या उसे कम करने का ही नाम भाँति-भाँति की तरक्की और उन्नति है। बड़े बड़े सभ्य देश और जाति जो आज दिन उन्नति के शिखर पर हो रही हैं पहले अत्यन्त क्लेश और दु:ख झेल कर उन्नति की इस चरम सीमा को पहुँची हैं। बिना क्लेश उठाये सुख और ख्याति तो कभी मिलती ही नहीं इसलिये सुख का हेतु भी हम दुख ही मानेंगे। यदि सिंह आदि शिकारी जानवरों को अधिक भूख न होती और साधारण पशुओं के समान केवल घास-पात से पेट भर वे भी संतुष्ट रहते तो क्या वे इतने मजबूत होते और यदि हिरन खरगोश आदि जीवों को सिंह आदि शिकारी जानवरों से भय न रहता तो वे क्या इतना तेज और बेगगामी होते। यदि भूख का दु:ख न होता तो अमृत समान भाँति-भाँति के सुस्वादु भोजन का सुख हम क्या जानते। दु:ख न होता तो पाथर से भी अधिक कड़े कलेजे वाले को कौन पिघला कर पानी कर सकता। दु:ख न होता तो सुख में फूल सब लोग मारे अभिमान के किसी को कुछ मोल ही न गिनते। दु:ख न होता तो हिम्मत और धीरज का कहीं नाम भी न रहता। दया

का प्रस्ताव कहीं न देखा जाता। सुधार और उन्नति किस आसमान का पखेरू है कोई भी न जानता। सोने की स्वच्छता तभी मालूम होती है जब आँच में धर कर तपाया जाता है इसलिये दु:ख सब प्रकार सुख का कारण है जैसे भूख की निवृत्ति पेट भरने पर होती है और पेट खाली हो जाने पर फिर भूख सताती है इसी तरह दु:ख के उपरांत सुख, सुख के उपरांत दुख इस क्रम से इन दोनों का एक चक्र चल रहा है जिससे निश्चय होता है सुख दु:ख में एक प्रकार का अन्योन्याश्रय संबंध है।

अब सबसे बड़ा दु:ख मरना है यदि मौत न होती तो क्या जीव समूह इतनी बढ़ती पर भी ऐसे ही सुखी रहते जैसे अब हैं फिर यदि मौत न होती और नई सृष्टि न पैदा होती तो क्या दुनिया की ऐसी ही तरक्की बराबर होती रहती जैसी अब हो रही है। निस्संदेह जो लोग कुछ चतुर और सयाने होते वे ही कुछ करते बाकी सब लोग घोंघा बने रहते और तरक्की करने वालों की तायदाद इतनी अधिक न होती। फिर यदि पैमाइश होती और मौत न होती क्या दशा मनुष्यों की होती आप ही सोच लें पानी भी पीने को न मिलता साफ हवा का तो कहीं पता भी न रहता न रहने को स्थान रह जाता। इसी से समझ लेना चाहिए कि दु:ख भी कहाँ तक सुख का साधन है और संसार की कितनी तरक्की इससे है। इन्हीं सब बातों को पूर्वापर सोच विचार गीता में स्थिरधी होने का मुख्य लक्षण – रखा गया है।

'दु:खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह:'

और भी दु:ख से वैराग्य, वैराग्य से ज्ञान, ज्ञान से मोक्ष इस तरह परम्परा संबंध के द्वारा अंत को मोक्ष तक का कारण दु:ख होता है बल्कि इसे मोक्ष की पहली सीढ़ी कहना उचित है। जैसे अपराधी अपने किये हुए अपराध का दंड भोग इस अपराध से छुटकारा पाता है वैसे पापी अपने आप कर्म का फल दु:ख और यातनायें भोग सुख स्वरूप मुक्ति का अधिकारी हो सकता है। तो सिद्ध हुआ कि दु:ख एक प्रकार का ऐसा विमल जल है जिसमें स्नान कर मनुष्य सुगमता से शांति के मंदिर में प्रवेश पा सकता है जहाँ जाकर इसे उत्कृष्ट सुख का दर्शन अति सुलभ है।

'अशान्तस्य कुत: सुखम्'

तो ईश्वर का स्मरण और चित्त में शान्ति पैदा करने का दु:ख से बढ़ कर कौन दूसरा द्वार हो सकता है।

'विपदः सन्तु नः शश्वत् यासु संकीर्त्यते हरिः।'

दूसरे दुःख न होता तो मित्र और बेगानो की परीक्षा की फिर क्या कसौटी रही जाती उपकार प्रत्युपकार आदि शब्दों के अर्थ की चरितार्थता ही संसार से लोप हो जाती न धीरज ही को कहीं प्रगट होने का अवकाश मिलता जो महात्मा महापुरुषों के अनेक उत्तम गुणों में पहला है।

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा।'

दुःख की अब और अधिक तान आलापेंगे तो डर लगती है कि कहीं पढ़ने वाले रूठ न जायें कि आज किस मनहूस से काम पड़ा इससे बहुत बस।

आत्मत्याग

आत्म-निर्भरता के समान आत्म-त्याग भी देश के कल्याण का प्रधान अंग है। हमारे देश में आत्मत्याग का बीज भी वैसा ही क्षीण हो गया है जैसा आत्म-निर्भरता का। अचरज है जहाँ के इतिहासों में दधिचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण इत्यादि महापुरुषों के अनेक उदाहरण से आत्म-त्याग की कैसी उत्कर्षता दिखाई गई है, जिन महात्माओं ने दूसरों के लिए अपने अमूल्य जीवन का भी कुछ मोल न समझा वहाँ के लोग अब कहाँ तक स्वार्थपरायण पाये जाते हैं कि जिसकी हद्द नहीं है। बहुधा बेटा भी बाप के मुकाबिले तथा बाप बेटा के मुकाबिले किसी बात में जरा भी अपना नुकसान नहीं बर्दाश्त करना चाहता। इस अंश में सीधे-सादे हमारे पुराने ढर्रे वाले फिर भी सराहना के लायक हैं जिनके शील संकोच से, कभी को धर्म के ख्याल से किसी न किसी रूप में आत्मत्याग की जड़ नहीं टूटी वरन् कुछ न कुछ इसकी वासना एक तरह पर फिसलती हुई चली जा रही है। नई तालीम तो आत्मत्याग के लिये मूलोच्छेदी कुठार हुई। हुआ चाहे जो इसके बानी-मुबानी है उनमें जब यहाँ तक स्वार्थपरता है कि स्वार्थ के पीछे अन्ध्धे दया, सहानुभूति और न्याय को बहुत कम आदर है हमारे नस-नस का रस निकाल लेते हैं तो उनकी दी हुई तालीम में आत्मत्याग का वह गुज कहाँ से आ सकता है जिसके उदय होने से अपनापन का नीचा ख्याल या तो जाता ही रहता है या यह इस हद्द की कोई रही नहीं जाता।

'उदारचरितानामतु वसुधैव कुटुम्बकम्'

हम लोग जो इस समय सब भाँति क्षीण हो गये हैं इसलिए 'क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति' इस वाक्य के अनुसार हममें आत्मत्याग की वासना बहुत कम हो गई है। किन्तु वहाँ और के मुकाबिले खुदगर्जी की अलबत्ता बेहद्द दखल है।

आपस में आत्मत्याग और सहानुभूति ज्यों की त्यों है। लंकाशायर वालों की बड़ी हानि के ख्याल से कई के माल पर 'इम्पोर्ट डयूटी' का न लगना गवर्नमेण्ट की हाल की कार्यवाई इस बात की गवाही है। इस खुदगर्जी के लिये जो सरासर अन्याय और धर्मनीति के विरुद्ध है अँगरेजी गवर्नमेण्ट को दुनिया की और सल्तनते नाम रखती हैं पर वहाँ 'स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता' का सिद्धान्त सब को दबा रहा है।

हमारे यहाँ नई तालीम ने कुछ निराला ही रंग दिखलाया। जबान से कही आत्मत्याग 'सेल्फ-सेक्रिफाइस' दिन भर चिल्लाया करें काम पड़ने पर एक दूसरे के लिए छूरी तेज किये ताका करते हैं। पुराने क्रम वाले धर्म और ईश्वर के भय से बहुत से अनुचित कामों से अपने को बचाते हैं यहाँ सो भी नहीं है क्योंकि तालीम पाकर जो ईश्वर में श्रद्धा और धर्म की ओर झुकावट हुई तो समझना चाहिए उसे पूरी-पूरी तालीम नहीं दी गई। समाज के बंधन से छुटकारा, स्वच्छन्दाचार, बेरोक-टोक, स्वच्छन्द, आहार-विहार इत्यादि कई एक बातें नई तालीम के सूत्र हैं। आर्यसमाज, ब्रह्म समाज आदि भिन्न-भिन्न समाजों में जो ये कपटी घुसा करते हैं और उन-उन समाजों के बड़े पक्षपाती हैं सो इसीलिये कि ये समाज उनकी आत्मसुखरत होने के लिये ढाल का काम दे रही है। यद्यपि इन समाजों के प्रवर्तक महापुरुष आत्मत्याग के नमूना हो गये हैं, उनका कभी यह प्रयोजन नहीं था कि केवल आत्मसुखेच्छा और समाज-बंधन से छुटकारा पाने के लिये तथा यत्किंचित बचे बचाये आत्मत्याग के उसूलों को तहस-नहस करने के लिये उनके समाज में लोग दाखिल हों। अस्तु, हमारे दिन अभी अच्छे नहीं हैं, दैव हमसे प्रतिकूल हैं, जो कुछ पाप हिन्दू जाति से बन पड़ा है और बराबर बनता जाता है जब तक उसका भरपूर मार्जन न हो लेगा तब तक जो कुछ उपाय भी इस बिगड़ी कौम के बनाने का किया जायगा उसका उलटा ही फल होगा। जब कभी हमारे सुदिन आवेंगे आत्मत्याग, आत्मगौरव, आत्मनिर्भरता आदि श्रेष्ठ गुण सभी यहाँ आय बसेरा करने लगेंगे।

यह आत्मत्याग के अभाव का उदाहरण है जिससे हम अपने लोगों में किसी का विलाइत जाना पसन्द नहीं करते। आत्मत्याग मन में जगह किये हो तो कभी संभव है कि हम वहाँ के आमोद-प्रमोद में फँस बिगड़ कर वहाँ से लौटे और वहाँ से आय अपने देशी भाइयों को जानवर समझ उनसे घिन करने लगें। सच तो यों है कि यदि आत्मत्याग के सिद्धांत पर हम दृढ़ हों तो विलायत जाने की आवश्यकता ही क्या रहे?

'पथ्ये सति गतार्तस्य किमौषधि निषेवणैः।
पथ्यैसति गतार्तस्य किमौषधि निषेवणैः॥

पथ्य से रहने वाले रोगी को दवा के सेवन से क्या? पथ्य से न रहने वाले रोगी को दवा से क्या? जो कौम हम पर इस समय हुकूमत कर रही है उससे हम किस बात में हेठे हैं। बुद्धि, विद्या, उद्यम, व्यवसाय, अध्यवसाय, योग्यता, क्षमता क्या हममें नहीं है? बल्कि काम पड़ने पर हर एक बातों में सबकत ले गये और उन्हें अपने नीचे कर लिया। एक आत्मत्याग की ऐसी भारी कसर लगी चली आ रही है कि जिससे हमारे अच्छे-अच्छे गुण सब फीके मालूम होते हैं। स्नेह, मैत्री, दया, वात्सल्य, श्रद्धा, अनुराग की पुण्यमयी प्रतिमा आत्मत्याग के पूजने वाले वे ही भाग्यवान् नर हैं जिन पर दयालु परमात्मा की कृपा है। भाग्यहीन भारत उस सौम्यमूर्ति के पूजन में रुचि और श्रद्धा न रख सब गुन आगर होकर भी दुःख सागर में डूबता निस्तार नहीं पाता। हमारे पूर्वजों ने चार वर्ण की प्रथा इसी आत्मत्याग के मूल पर चलाया था-ब्राह्मण जो निर्लोभ हो कठिन से कठिन तपस्या और उत्कृष्ट विद्या के द्वारा प्रजा के कल्याण का सामर्थ्य प्राप्त करें। अब वे ही ब्राह्मण निपट स्वार्थ लम्पट हो आत्मत्याग की गन्ध भी अपने में नहीं रखते और जैसा कदर्य और स्वार्थान्ध ये हो गये वैसा चार वर्ण में दूसरे नहीं। आत्मत्याग की वासना से दूसरे का उपकार सोचना कैसा? यही चाहते हैं कि प्रजा को मूर्ख किये रहें जिसमें इनके नेत्र न खुलते पायें नहीं तो हमारे दम्भ की सब कलई खुल जायगी? इसी तरह पहले क्षत्रिय प्रजा की रक्षा के लिये शत्रु के सामने जा कूदते थे और युद्धक्षेत्र में अपना जीवन होम कर देते थे। अब क्षत्रिय भी वैसे नहीं देखे जाते जिनमें आत्मत्याग की भावना बच रही हो। सारांश यह कि देश के कल्याण के लिए आत्मत्याग हमारे लिये वैसी ही आवश्यक है जैसी आत्मनिर्भरता। जातीयताभिमान या कौमियत का होना इन्हीं दोनों की युगल-जोड़ी के अधीन है, बिना जिनके हम और-और गुणों से भरे-पूरे होकर भी भीरु, कायर, क्रूर, कुचाली, अशक्त, असमर्थ आदि बदनामी की माला पहने हैं, जब कि और-और लोग अनेक निन्दित आचरण के रहते भी सभ्यता की राह दिखलाने वाले हमारे गुरु बनते हैं, सो इसी युगल-जोड़ी के प्रताप से।

आदि मध्य अवसान

सकल सर्जित पदार्थ जो वेदांत दर्शन के सिद्धांत अनुसार जीव कोटि में गिने गए है और जिनका जीव कोटि से किसी तरह का संबंध है उनकी आदि

मध्य अवसान यह तीन अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं में आदिम और मध्यम अवस्था सदा स्पृहणीय और मन को हरने वाली है। अवसान अर्थात अंतिम अवस्था ऐसी ही किसी की सोहावनी होती है वरन अंत की अवस्था बड़ी घिनौनी रूखी और किसी के उपकार की नहीं होती। आरंभ या आदि हर एक का बहुत कुछ आशाजनक और मनभावन होता है, मध्यम या प्रौढ़ अवस्था उसी आशा को फलवती करने वाली होती है। पौधा जब लगाया जाता है या बीज जब प्रस्फुटिस रूप में रहता है उस समय कटीले वृक्ष भी सुहावने लगते हैं। प्रौढ़ अवस्था कुसुमोद्गम के उपरांत फलों से लद जाने की है। पुराना पड़ने पर वही पेड़ जब कम फलने लगता है बाग के माली को उसके बढ़ाने या सींचने की वैसी मुस्तैदी नहीं रहती जैसी नए पौधों के लिए। जीवधारियों में देखो तो दुधमुहा शिशु मनुष्य का हो या किसी जानवर तथा चौपायों का हो ऐसा प्यारा लगता है कि यही जी चाहता है कि नेत्र उसकी मुग्ध मुखच्छवि को अनिमेष दृष्टि से देखता ही रहे। वही तरुणाई की प्रौढ़ अवस्था आते ही जवानी की नई उमंग में भरा हुआ दर्पांध कोई कैसा ही कठिन काम हो उसमें भिड़ जाता है और जब तक कृत कार्य न हो उससे मुँह मोड़ता। नस-नस में जब कंदर्प अपना चक्रवर्तित्य स्थापित कर देता है तब कुरूप भी सुरूप, निर्जीव भी सजीव बोध होता है। सुषमा की सामग्री सब सोलहों कला पूर्ण हो जाती है, लवनाई और सलोपापन अपनी सीमा को पहुँच जाता है। कहा भी है, 'प्राप्ते च षोडसे वर्षे शूकरीप्यप्सरायते' यही समय ऐसे अल्हड़पवने का होता है कि इसमें यावत् प्रलोभन सब उभड़-उभड़ उधर ही आ टूटते हैं। इस तरुणाई की कसौटी में कस जाने पर जो कहीं से किसी अंश में न डिगा चरित्र की विजय बैजयंती उसी के गले का हार होती है। अवसान में जब यह प्रौढ़त्व बिदा हुआ तब वह सलोनापन न जानिए कहाँ जा छिपता है। गाल चुचक जाते हैं बगुला की चोंच सी लंबी नासिका, खोड़हा मुँह, सूप से लंबे-लंबे कान, गंजा सिर कैसा बिलखावना मालूम होता है कि प्रेत के आकार सदृश देखते भय गपजता है। शुष्क चर्म पिनद्ध अस्थि शेष कंकाल वीभत्स का साक्षात्कार सा किसे न विभीषिका और घृणा पैदा करता होगा। ऐसा ही हमारे प्राचीन आर्यों की सभ्यता का जब उदय था उस समय उसकी बाल्या अवस्था थी, उस समय जो-जो प्राकृतिक घटनाएँ उनके दृष्टिपथ की पहुनाई में आईं उन्हें दैवी गुण विशिष्ट, मनुष्य शक्ति बाह्य और इंद्रियातीत समझ ईश्वर मान उनकी स्तुति करने लगे। जैसा ऋग्वेद में वृंद उषा को देवी कह उसकी कमनीय कोमल मूर्ति के वर्णन में कवित्व प्रतिभा को छोर तक पहुँचा

दिया। इसी तरह सूर्य में गरमी और उसका विशाल बिंब क्षितिज से ऊपर को देख, सूर्य की गरमी और प्रकाश से पौधों को उगते और बढ़ते हुए प्रायः चिरकाल तक तमारि सूर्य ही का सविता अर्यमा विशेषण पदों से गुण गान करते रहें 'उद्वयं तमसस्परिस्वः' इत्यादि कितनी ऋचाएँ हैं जिन्हें संध्योपासन के समय हम नित्य पढ़ा करते हैं। इसी तरह मेघमाला में क्षण सौह्यदा विद्युत की चमक-दमक देख ऐरावत् और इंद्र इत्यादि की कल्पनाओं से उनमें दैवी शक्ति का आरोप कर उन-उन घटनाओं का अनेक गुण गान करते रहे। पीछे जब उनकी सभ्यता अपनी प्रौढ दशा में आई तो आत्मा तथा सृष्टि के आदि कारण का जैसा उन्होंने पता लगाया वैसा अब तक न किसी प्राचीन जाति को सूझा, न ऐसी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर कोई आधुनिक सभ्य जाति पहुँची। दर्शन शास्त्रों की जुदी-जुदी प्रक्रिया, संस्कृत की लोकोत्तर परिष्कृत भाषा, संगीत, कविता, आदि अनेक कौशल का आविष्कार और उनकी परमोन्नति की गई। साधारण जीवन और सत्कृष्ट विचार इन्हीं आर्यों में पाया गया।

अब उस सभ्यता का अवसान है। पहले यावनिक सभ्यता ने इसका दलन किया सब तरह पर इसे चूर-चूर कर डाला अब विदेशी सभ्यता इसे पराभव देते हुए देश में सब ओर अपना प्रकाश कर रही है। वैदिक सभ्यता का अवसान होने से उनके मूल आधार ब्राह्मत्व ब्राह्मत्व से च्युत हो गए, चातुर वर्ण तथा चार आश्रम की प्रथा छिन्न-भिन्न हो गई, संस्कृत का पठन पाठन लुप्त प्राय हो कहीं-कहीं थोड़े से ब्राह्मणों ही में रह गया। आधुनिक नूतन सभ्यता और शिक्षा जो इस समय अपनी प्रौढ़ अवस्था में है उसका पहला उद्देश्य यही है कि जहाँ तक जल्द हो सके ऊपर कहे मूल आधारों का कहीं नाम निशान भी न रह पाए। जिस घराने में दस पुश्त से अविच्छिन्न पठन-पाठन संस्कृत का रहता आया और एक से एक दिग्गज पंडित और ग्रंथकार होते आए वहाँ अब अंग्रेजी जा घुसी। उस कुल के विद्यमान वंशधर अब ब्राह्मण बनने में शरमाते हैं। अपने को पंडित कहते या लिखते रूकते हैं। मिस्टर या बाबू कहने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। कहीं-कहीं तो यहाँ तक संस्कृत का लोप देखा जाता है कि उनके घर की पुरानी पुस्तकें दीमक चाट गए। लड़कों में एक भी इस लायक न हुआ कि साल में एक बार पुस्तकों के बस्तों को खोलता और उन्हें उलट-उलट सौंत के रखता। नूतन सभ्यता यहाँ ते पाँव फैलाए हुए है कि जो पुराने क्रम पर है बेअकल समझे जाते हैं, सभ्य समाज में उनकी हँसी होती है।

हम ऊपर कह आए हैं अवसान भी किसी-किसी का सोहावना होता है। जैसा शीत काल का अवसान पूस माघ के जाड़ो में ठिठरे हुओं को फागुन के सुहावने दिन कैसे भले मालूम होते हैं। ऐसा ही जेठ मास की तपन के उपरांत जब बरसात आती है और वर्षा के उपरांत शरद। जाड़ा गरमी बरसात इन तीनों की मध्य अवस्था या प्रौढ़त्व किसी को नहीं रुचता आदि और अवसान सभी चाहते हैं। किसी उत्सव या त्योहार का आगमन या मध्य भाग बड़े खुशी का होता है अंत नहीं। अंग्रेजी राज्य का आदि बड़े सुख का रहा प्रौढ़ता सब तरह दुखदायी हो रही है। सुह्यद सरल चित मित के समागम का आदि और मध्य बड़ा सुखदायी है अंत का बिछोह शोक बढ़ाता है। गीता में भगवान ने उत्तम उसी को ठहराया है, जो आदि मध्य अवसान तीनों में सुखद हो जिसका आदि और मध्य तो अच्छा हो पर परिणाम में दुख मिले वह राजसी और तामसी है। आदि मध्य अवसान तीनों में जो एक से रहते हैं विमल ज्ञानियों में वही हैं। आदि और मध्य चाहे जैसा रहा अंत बना तो सब बना कहा जाता है।

आय-व्यय

आय और व्यय को अलग-अलग विभाग करने में आय हम उसे कहेंगे जो पास न हो वरन दूसरे से अपने को मिले। व्यय वह है, जो अपने पास से दूसरे के पास से दूसरे पास चला जाय। खेती तिजारत और नौकरी साधारण रीति पर आय के ये तीन बड़े द्वार हैं। सिवाय इसके मुल्क की दौलत के बढ़ाने के द्वार और भी कई एक हैं। जैसा हर एक तरह की खानों का अधिक होना, धरती की पैदावार, वाणिज्य, दस्तकारी, ऊँचे-ऊँचे पदों पर देश के लोगों का नियत होना, 'एक्सपोर्ट' अर्थात अपने देश की पैदावार या दस्तकारी का दूसरे देशों में जाना और उसके बदले नगदी रुपया का अपने यहाँ आना इत्यादि। इंगलैंड, जर्मनी, जापान, फ्रांस आदि देशों में आय के ये जितने द्वार हैं सब बे रोक-टोक खुले हैं। जिस देश में आय के द्वार इतने हैं वहाँ दौलत और भागवानी के प्रतिदिन बढ़ते जाने में कौन-सा संदेह है। जहाँ आय के द्वार कम हैं, जो भी उनमें हद बाँध दी गई है और व्यय के द्वार सौ छेद वाले घड़े के समान अनेक और अनगिनत हैं वहाँ सौभाग्य और संपत्ति की छाया का भी पड़ना कैसा वरन लक्ष्मी की जेठी बहन दरिद्रा का चिर निवास अवश्यमेव निश्चिंत है। अब हम अपने देश आय तथा व्यय का हिसाब लगाते हैं। देश का सब से बड़ा आय धरती की उपज है। इस में संदेह नहीं उपज में वह सब देशों की आय से आगे बढ़ा है, जुदे-जुदे

मुल्क या जुदी-जुदी आबो-हवा की ऐसी पैदावार बची है, जो यहाँ नहीं उपज सकती केवल उपज ही नहीं वरन बहुतायत भी उसकी यहाँ हो जा सकती है। किंतु सरकारी लगान इतना अधिक है कि देश के लिए उसका आय का द्वार कहते मन सकुचाता है। इसलिए कि इस आय का जो कुछ सारांश या हीर है वह विलायत ढो जाता है केवल मेहनत का हक्क मात्र हमें बच रहता है। फिर भी इस समय जब आय के और-और द्वार बंद हैं केवल उपज अकेली बच रही जिससे इतना भी धन देश में देख पड़ता है। दूसरा आय वाणिज्य है सो उसमें पहले तो पूँजी इतनी न रह गई कि यूरोप और जापान की तिजारत के साथ हम उतरा चढ़ी कर सकें किया भी चाहें तो धर्म आड़े आता है। यहाँ महाजन काल मनाते रहते हैं कि पंजाब का गल्ला दक्खिन पहुँचाएँ दक्खिन का बंगाल। ब्याज का परता फैलाते इतनी हिम्मत कहाँ कि बाहर कदम निकाल यहाँ की उपज दूसरे-दूसरे देशों में पहुँचाएँ और वहाँ का माल अपने यहाँ लाय जो फायदा विलायत के एजेंट उठा रहे हैं उसे हम खुद हासिल करें। रुई, सन, पेटुआ आदि कच्चा बाना हमसे खरीद विलायत के लोग उसका अठगुना हमसे भर लेते हैं। उस कच्चे बाने में भी डूटी और जहाज आदि का महसूल दे दिवाकर रुपये में एक आना अधिक से अधिक दोअन्नी रुपये से ज्यादा हमें नहीं मिलता। दस्तकारी में कल की बनी चीजों के मुकाबले परता नहीं बैठता दूसरे अंगरेजी माल की चमक-दमक और सुथरापन के मुकाबले हाथ की बनी चीजें खुरदुरी और भद्दी जचती हैं। देश की पुरानी कारीगरी बिलकुल रद्दी हो गई, जितने पेशेवाले कारीगर थे सब अपना काम छोड़ बैठे उन्हें कोई पूछता नहीं, भूखों मरने लगे। दस्तकारी का भी जो कुछ आय था वह सब विलायत ने छीन लिया। बंगाल के टुकड़ा होने पर जो कुछ जोश फैला था वह चंदरोजा हो कर्मचारियों के दबाने से टाँय-टाँय फिस हो गया। खानिक द्रव्यों की आमदनी का भी यही हाल है ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसकी खान यहाँ न हो, सोने और हीरे तक की खान यहाँ है पर उसका फायदा भी विदेशी उठा रहे हैं। मैसूर में सोने की खान है पर हमें क्या उसका भी सार विदेशी खींचे लेते हैं। लोहे की खान इतनी अधिक हमारे यहाँ है कि कदाचित और देशों में न हों पर रेल इत्यादि में जितना लोहा लगता है सब विलायत से आता है। महारानी का स्मारक चिन्ह जो हाल में यहाँ बना उसके लिए पत्थर भी इटली से मँगाया गया। अब रहा एक आय सरकारी नौकरी का उसमें दो सौ के ऊपर वाली नौकरी प्रायः विलायत के लोगों को मिलती है 15 या 20 की नौकरी जो पिसौनी है हमें दी जाती हैं। यह तो हमारे आय का

हिसाब भया अब व्यय की ओर चलिए। आय के द्वार तो सब ओर से बंद हैं व्यय के द्वार चारों ओर से खुले हैं।

हमारे व्यय का क्या पूछना तैमूर महमूद गजनवी और नादिर के जमाने से अब तक यहाँ सिवाय व्यय के और होता क्या आया। संग्रह तथा आय तो हमने कभी जाना नहीं संचित पूँजी का गवन अलबत्ता जानते हैं। सबके पहले धरती की मालगुजारी जो 55 या 60 सरकारी खजाने में जाता है 100 में 40 या 45 किसान तथा जमींदार के हाथ लगता है। मिसल है 'बह बह मरैं बयलवा बैठे खांय तुरंग' उसी 40 खाने पहनने में खर्चे, नाक लाज में खर्च न करें तो समाज में मुँह दिखाने लायक न रहें, लड़की-लड़कों के ब्याह का खर्च, एक साल भी खेती न लगे तो मुँह बाय बैठे रहें। भाँति-भाँति के टैक्स का खर्च, सरकारी चंदे का खर्च, जो किसी न किसी बात के लिए साल में बहुधा कई बार उगाहा जाता है, कलक्टर साहब ने कहा कैसे इनकार किया जाय। सिवा इसके तोहफे नजर हर साल एक न एक कोई दरबार। अदालत में स्टांप और सरकारी रसूमों का खर्च, अदला-बदला, अभी हाल में कर्जन साहब चलती बार महाराजा बनारस को गन दे हाथी दाँत का 'फर्नीचर' मेज कुर्सी आदि बदले में ले गए। लड़कों के पढ़ाने में फीस का खर्च। चार आना लागत की किताब का एक रुपया दाम। सिवा इसके त्योहरों का खर्च। कोई महीना खाली नहीं जाता जिसमें कोई न कोई त्योहार न आ पड़ते हों जिसमें गृहस्थ का चूर ढीला हो जाता है। सोचने की बात है कि जहाँ आय का द्वार इतना संकुचित और व्यय का कोई हिसाब नहीं है उस देश का कल्याण और वहाँ के रहने वालों की बेहया जिंदगी का इतने पर भी ओर न हो यही अचरज है।

आशा

हमारे यहाँ के ग्रंथकारों ने काम को मनसिज कहा है। यदि मनसिज शब्द का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि 'मन में उत्पन्न हुए भाव' तो हमारी समझ में आशा से बढ़ कर मीठा फल देने वाली हृदय की विधि दशाओं में से दूसरी कोई दशा नहीं हो सकती। यद्यपि हमारे यहाँ कवियों ने घर की दश दशा माना है, किंतु उस रास्ते को छोड़ मोटे ढंग पर ध्यान दें और मान लें कि, 'काम' या तो उस पशु-बुद्धिरूपी मोहांधकार का नाम है, जो मनुष्य के लज्जा, नम्रता आदि गुणों की मीठी रोशनी का नाश कर देता है और जो इस दशा में मनुष्य जाति का कलंक है अथवा वह संसार के सब संभव और असंभव प्यार मात्र

का नमूना है, तब भी हम यह नहीं कह सकते कि इन ऊपर लिखे हुए काम के दो रूपों के पाश में उतने लोग फँसे हों जितने स्वेच्छया आनंदपूर्वक अपने को आशा के पाश में बाँधे हुए हैं। 'काम' एक रोग है जिससे चाहो थोड़ा सा सुख भी मिलता हो पर उस रोग के रोगी इसकी दवा अन्यत्र ही ढूँढ़ते हैं, पर आशा को देखिए तो वह स्वयं एक ऐसे बड़े भारी रोग की दवा है जिसकी दूसरी दवा सोचना असंभव है। वह रोग नैराश्य है जिससे दारुणतर क्लेश की दशा मनुष्य के चित्त के लिए हो ही नहीं सकती। इस वास्ते यह जो हमारे यहाँ की कहावत है कि

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्॥'

हमारी समझ में नहीं आती। यदि वर्ष के भिन्न-भिन्न मौसमों की तरह मनुष्य के हृदय में भी तरह-तरह की दशाओं का दौरा हुआ करता है और उसमें भी ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर इत्यादि ऋतु एक-दूसरे के बाद आते हैं तो यही कहना पड़ेगा कि नैराश्य के विकट शीतकाल की रात्रि के बाद ही आशा रूपी ऋतुराज के सूर्य का उदय होता है। हृदय यदि प्रमोद-उद्यान है तो उसका पूर्ण सूख ही आशा रूपी बसंत ऋतु में होता है।

क्या ईश्वर की महिमा इसमें नहीं देखी जाती कि दुःखी से दुःखी जनों का सर्वस्व चला जाने पर भी आशा से उनका साथ नहीं छूटता। यदि मान और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी चीज है जिसको उसके भक्त, धन के चले जाने पर भी अपने गाँठ में बाँधे रहते हैं तो सोचना चाहिए कि वह कितनी प्रिय वस्तु होगी जी दैवात् प्रतिष्ठाभंग होने पर भी मनुष्य के हृदय को ढाढ़स और आराम देती है। आशा को यदि मनुष्य के जीवन रूपी नौका का लंगर कहें तो ठीक होगा। क्योंकि जैसा बड़े से बड़े तूफान में जहाज लंगर के सहारे स्थिर और सुरक्षित रहता है वैसा ही मनुष्य भी अपने जीवन में घोर विपदाओं को झेलता हुआ आशा के सहारे स्थिर और निश्चलमना बना रहता है। मनुष्य के जीवन में कितना ही बड़ा से बड़ा काम क्यों न हो उसके करने की शक्ति का उद्भव या प्रसव-भूमि यदि इस आशा ही को कहें तो कुछ अनुचित न होगा। क्योंकि किसी बड़े काम में आशा से बढ़कर बुद्धिमत्ता की अनुमति देने वाला और कौन मंत्री होगा? मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बुद्धिमानों ने विविध भावनाओं के अभिनय की केवल रंगभूमि माना है। परदे के पीछे से धीरे-धीरे वह शब्द बतला देनेवाला, जिससे हम चाहे जो पात्र बने हों और चाहे जिस रस के नाटक का अभिनय अपने चरित्र द्वारा करते हों उसमें दृढ़तापूर्वक लगे रहते हैं, इस आशा के अतिरिक्त दूसरा और कौन

प्राम्प्टर है? और भी यदि संसार को भिन्न-भिन्न कलह की रण-भूमि मानें तो उस अपरिहार्य रणभूमि में घायलों के घाव पर मरहम रखने वाला जर्राह आशा ही को कहना चाहिए।

जिस किसी ने संसार में आकर किसी बात का यत्न न किया हो और किसी वस्तु की खोज में अपने को न डाल दिया हो उससे बढ़कर व्यर्थ और नीरस जीवन किसका होगा? जब यह बात है तो बतलाइए किसी प्रकार के प्रयत्नमात्र की जान आशा को छोड़ किसी दूसरे को कह सकते हैं? क्योंकि कैसे संभव है कि मनुष्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा हो और आशा से उसका हृदय शून्य हो? किसी काम के अभिलषित परिणाम में अमृत का गुण भर देना यह शक्ति सिवाय आशा के और किसमें है। संसार में जो कुछ भलाई हुई है या होगी उस सब का मूल सदा प्रयत्न है और इस प्रत्यन की जान आशा है।

क्या झूठी आशा से भी किसी को कुछ दु:ख हो सकता है? क्या झूठी आशा से नैराश्य अच्छा है? नहीं, नहीं, सच पूछिए तो ऐसी कोई वस्तु संसार में हुई नहीं जिससे नैराश्य अच्छा हो, बल्कि नैराश्य से बढ़कर बुरी दशा मन के वास्ते कोई हुई नहीं है। यदि आशा केवल मृगतृष्णा ही है तब भी वह नाउम्मीदी से अच्छी है। इस आशारूपी प्रबल वायु से हृदय रूपी सागर से जो दूर तक की तरंगे उठती हैं उन तरंगों की अवधि नजर में नहीं आ सकती। संसारमात्र इस आशा की रस्सी से कसा हुआ है। इसे हम कई तरह पर सिद्ध कर चुके हैं। अब आगे चलिए स्वर्ग या बैकुंठ क्या है? मनुष्य के हृदय में भाँति-भाँति की लालसा और आकांक्षा का केवल साक्षीमात्र। वास्तव में स्वर्ग है या नहीं इसका तर्क वितर्क इस समय यहाँ हम नहीं करते। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्वर्ग शब्द की सत्ता ही मनुष्य के लिए प्रबल आशा का सबूत है, क्योंकि जब इस बात को सोच कर चित्त दु:खी होता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा ठीक न्याय चाहिए वैसा इस संसार में हम नहीं देखते तो उसी बुद्धि को स्वर्ग के सुखों के द्वारा समझाने वाला आशा को छोड़ और दूसरा कौन गुरु है? आशा ही एक हमारा ऐसा सच्चा सुहृद है, जो लड़कपन से अंतकाल तक साथ देता है और आशा ही के द्वारा उत्पन्न वे भाव हैं, जो हमको मरने के बाद की दशा के बारे में भी सोचने को मजबूर करते हैं।

हमको कुछ ऐसा मालूम होता है कि अपने में आशा की दृढ़ता चाहना ही मनुष्य के हृदय की प्राकृतिक दशा है। ध्यान देकर सोचिए तो नैराश्य की अवस्था

मनुष्य के जीवन में केवल क्षणिक है। नैराश्य के भाव मन में उदय होते ही चट्ट आशा का अवलम्बन मिल जाता है। 'कितने थोड़े समय के लिए आदमी नैराश्य को जी में जगह देता है और कितनी जल्द फिर उसको निकाल कर बाहर फेंक देता है।' सिर्फ यही बात इसका पक्का सबूत है कि प्राकृतिक हित मनुष्य का आशा ही में है। आशा ही वह पुष्टई है जिसे खाकर आप जो चाहें वह काम करिए शिथिलता और आलस्य आपके पास न फटकने पाएगा। क्योंकि यह असंभव है कि आशा मन में हो फिर भी मनुष्य सिर नीचा किए हुए रंज में बैठा रहे। आशा की उत्तेजना यदि मन में भरी है तो ऐसी कातर दशा आने ही न पाएगी। इससे यदि आशा ही को आदमी की जिंदगी का बड़ा भारी फर्ज मानें तो कुछ अनुचित नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं कि आशा ही के विद्यमान रहने पर हम अपने सब फर्जों को पूरी-पूरी तरह से अदा कर सकते हैं। पर इसी के साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सामान्य आशा को अपने जीवन की दृढ़ता के लिए अपना साथी रखना और बात है, पर किसी एक बात की प्राप्ति की आशा पर अपने जीवन मात्र के सुख को निर्भर मानना दूसरी बात है। पहले रास्ते पर चलने से चाहे जीवन में हमें सुख का सामना हो या दु:ख का हम दोनों में एक सा दृढ़ हैं। किंतु दूसरे रास्ते पर चलने में वह चूक होगी कि हमने जिस आशा पर अपना बिलकुल सुख छोड़ रखा है वह आशा यदि टूट गई तो हमारी हानि ही हानि है।

कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ ईश्वर ने अनंत ऐसे रास्ते मनुष्य की प्रकृति को दृढ़, सहनशील और विमल करने के खोले हैं उन रास्तों में आशा ही पर चलकर मनुष्य शनै:-शनै: अपना कार्य सिद्ध कर सकता है। इस कारण मनुष्य को अपनी भलाई के लिए आशा से बढ़कर और क्या हो सकता है और मित्रगणों को भी, यदि उनको आवश्यकता हो, तो आशा से बढ़कर और कौन भेंट दी जा सकती है। यदि अंत काल में चिकित्सक आशा ही के द्वारा रोगी को प्राणदान तक कर सकता है तो इससे बढ़ कर गुण आप किस चीज में पाइएगा। सारांश यह कि इस संसार में अपनी और दूसरे की भलाई का परम आधार आशा ही है और परलोक तो हमने जैसा ऊपर कहा आशा का रूप ही है। अस्तु, हम भी यही आशा करते हैं कि यह लेख आप लोगों को कुछ न कुछ रोचक लगा होगा।

5

बालमुकुंद गुप्त

बालमुकुंद गुप्त (14 नवंबर 1865 - 18 सितंबर 1907) का जन्म गुड़ियानी गाँव, जिला रिवाड़ी, हरियाणा में हुआ। उन्होने हिन्दी के निबंधकार और संपादक के रूप हिन्दी जगत की सेवा की।

जीवनी

उर्दू और फारसी की प्रारंभिक शिक्षा के बाद 1886 ई. में पंजाब विश्वविद्यालय से मिडिल परीक्षा प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में उत्तीर्ण की। विद्यार्थी जीवन से ही उर्दू पत्रों में लेख लिखने लगे। झझझर(जिला रोहतक) के 'रिफाहे आम' अखबार और मथुरा के 'मथुरा समाचार' उर्दू मासिकों में पं. दीनदयाल शर्मा के सहयोगी रहने के बाद 1886 ई. में चुनार के उर्दू अखबार 'अखबारे चुनार' के दो वर्ष संपादक रहे। 1888-1889 ई. में लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' का संपादन किया। उर्दू के नामी लेखकों में आपकी गणना होने लगी। 1889 ई. में महामना मालवीय जी के अनुरोध पर कालाकाँकर (अवध) के हिंदी दैनिक 'हिंदोस्थान' के सहकारी संपादक हुए जहाँ तीन वर्ष रहे। यहाँ पं. प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क से हिंदी के पुराने साहित्य का अध्ययन किया और उन्हें अपना काव्यगुरू स्वीकार किया। सरकार के विरूद्ध लिखने पर वहाँ से हटा दिए गए। अपने घर गुड़ियानी में रहकर मुरादाबाद के 'भारत प्रताप' उर्दू मासिक का संपादन किया और कुछ हिंदी तथा बाँग्ला पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया।

अंग्रेजी का इसी बीच अध्ययन करते रहे। 1893 ई. में 'हिंदी बंगवासी' के सहायक संपादक होकर कलकत्ता गए और छह वर्ष तक काम करके नीति संबंधी मतभेद के कारण इस्तीफा दे दिया। 1899 ई. में 'भारतमित्र' कलकत्ता के संपादक हुए।

'भारतमित्र' में आपके प्रौढ़ संपादकीय जीवन का निखार हुआ। भाषा, साहित्य और राजनीति के सजग प्रहरी रहे। देशभक्ति की भावना इनमें सर्वोपरि थी। भाषा के प्रश्न पर 'सरस्वती संपादक', पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी से इनकी नोंक-झोक, लार्ड कर्जन की शासन नीति की व्यंग्यपूर्ण और चुटीली आलोचनायुक्त 'शिवशंभु के चिट्ठे' और उर्दूवालों के हिंदी विरोध के प्रत्युत्तर में उर्दू बीबी के नाम चिट्ठी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेखनशैली सरल, व्यंग्यपूर्ण, मुहावरेदार और हृदयग्राही होती थी। पैनी राजनीतिक सूझ और पत्रकार की निर्भीकता तथा तेजस्विता इनमें कूट कूटकर भरी थी।

पत्रकार होने के साथ ही वे एक सफल अनुवादक और कवि भी थे। अनुदित ग्रंथों में बाँग्ला उपन्यास मडेल भगिनी और हर्षकृत नाटिका रत्नावली उल्लेखनीय हैं। स्फुट कविता के रूप में आपकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ था। इनके अतिरिक्त आपके निबंधों और लेखों के संग्रह हैं।

रचनाएँ

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं-

हरिदास,
खिलौना,
खेलतमाशा,
स्फुट कविता,
शिवशंभु का चिट्ठा,
सन्निपात चिकित्सा,
बालमुकुंद गुप्त निबंधावली
शिवशंभु के चिट्ठे
बनाम लार्ड कर्जन

माई लार्ड! लड़कपनमें इस बूढ़े भंगड़को बुलबुलका बड़ा चाव था। गांवमें कितने ही शौकीन बुलबुलबाज थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे, पालते थे और लड़ाते थे, बालक शिवशम्भु शर्मा बुलबुलें लड़ानेका चाव नहीं रखता था। केवल एक

बुलबुलको हाथपर बिठाकरही प्रसन्न होना चाहता था। पर ब्राह्मणकुमारको बुलबुल कैसे मिले? पिताको यह भय कि बालकको बुलबुल दी तो वह मार देगा, हत्या होगी। अथवा उसके हाथसे बिल्ली छीन लेगी तो पाप होगा। बहुत अनुरोधसे यदि पिता ने किसी मित्रकी बुलबुल किसी दिन ला भी दी तो वह एक घण्टेसे अधिक नहीं रहने पाती थी। वह भी पिताकी निगरानीमें।

सरायके भटियारे बुलबुलें पकड़ा करते थे। गांवके लड़के उनसे दो दो तीन तीन पैसेमें खरीद लाते थे। पर बालक शिवशम्भु तो ऐसा नहीं कर सकता था। पिता की आज्ञा बिना वह बुलबुल कैसे लावे और कहां रखे? उधर मन में अपार इच्छा थी कि बुलबुल जरूर हाथपर हो। इसीसे जंगलमें उड़ती बुलबुलको देखकर जी फड़क उठता था। बुलबुलकी बोली सुनकर आनन्दसे हृदय नृत्य करने लगता था। कैसी-कैसी कल्पनाएं हृदयमें उठती थीं। उन सब बातोंका अनुभव दूसरोंको नहीं हो सकता। दूसरोंको क्या होगा? आज यह वही शिवशम्भु है, स्वयं इसीको उस बालकालके अनिर्वचनीय चाव और आनन्दका अनुभव नहीं होसकता।

बुलबुल पकड़नेकी नाना प्रकारकी कल्पनाएं मन ही मन में करता हुआ बालक शिवशम्भु सो गया। उसने देखा कि संसार बुलबुलमय है। सारे गांव में बुलबुलें उड़ रही है। अपने घर के सामने खेलने का जो मैदान है, उसमें सैकड़ों बुलबुल उड़ती फिरती है। फिर वह सब ऊंची नहीं उड़तीं। बहुत नीची नीची उड़ती है। उनके बैठने के अड्डे भी नीचे नीचे है। वह कभी उड़ कर इधर जाती हैं और कभी उधर, कभी यहां बैठती है और कभी वहां, कभी स्वयं उड़कर बालक शिवशम्भुके हाथ की उंगलियोंपर आ बैठती है। शिवशम्भु आनन्दमें मस्त होकर इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके दो तीन साथी भी उसी प्रकार बुलबुलें पकड़ते और छोड़ते इधर उधर कूदते फिरते है।

आज शिवशम्भु की मनोकांक्षा पूर्ण हुई। आज उसे बुलबुलोंकी कमी नहीं है। आज उसके खेलने का मैदान बुलबुलिस्तान बन रहा है। आज शिवशम्भु बुलबुलों का राजा ही नहीं, महाराजा है। आनन्द का सिलसिला यहीं नहीं टूट गया। शिवशम्भु ने देखा कि सामने एक सुन्दर बाग है। वहीं से सब बुलबुलें उड़कर आती हैं। बालक कूदता हुआ दौड़कर उसमें पहुंचा। देखा, सोने के पेड़ पत्ते और सोने ही के नाना रंग के फूल हैं। उन पर सोने की बुलबुलें बैठी गाती हैं और उड़ती फिरती हैं। वहीं एक सोने का महल है। उस पर सैकड़ों सुनहरी कलश हैं। उन पर भी बुलबुलें बैठी हैं। बालक दो तीन साथियों सहित महल

पर चढ़ गया। उस समय वह सोने का बागीचा सोने के महल और बुलबुलों सहित एक बार उड़ा। सब कुछ आनन्द से उड़ता था, बालक शिवशम्भु भी दूसरे बालकों सहित उड़ रहा था। पर यह आमोद बहुत देर तक सुखदायी न हुआ। बुलबुलों का ख्याल अब बालक के मस्तिष्क से हटने लगा। उसने सोचा – हैं! मैं कहां उड़ा जाता हूं? माता पिता कहां? मेरा घर कहां? इस विचारके आतेही सुखस्वप्न भंग हुआ। बालक कुलबुलाकर उठ बैठा। देखा और कुछ नहीं, अपना ही घर और अपनी ही चारपाई है। मनोराज्य समाप्त हो गया।

आपने माई लार्ड! जबसे भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलोंका स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहां की प्रजा के लिये भी कुछ कर्तव्य पालन किया? एक बार यह बातें बड़ी धीरता से मन में विचारिये। आपकी भारत में स्थिति की अवधि के पांच वर्ष पूरे हो गये अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिये नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है? इस बार के बजटकी वक्तृता ही आपके कर्तव्यकाल की अन्तिम वक्तृता थी। जरा उसे पढ़ तो जाइये फिर उसमें आपकी पांच साल की किस अच्छी करतूतका वर्णन है। आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मिमोरियल हाल और दूसरा दिल्ली-दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी? विक्टोरिया मिमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक दो बार देख आने की चीज होगा उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जावेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

अब दरबारकी बात सुनिये कि क्या था? आपके खयाल से वह बहुत बड़ी चीज था। पर भारतवासियों की दृष्टिमें वह बुलबुलों के स्वप्न से बढ़कर कुछ न था। जहां जहां से वह जुलूसके हाथी आये, वहीं वहीं सब लौट गये। जिस हाथी पर आप सुनहरी झूलें और सोने का हौदा लगवाकर छत्र-धारण-पूर्वक सवार हुए थे, वह अपने कीमती असबाब सहित जिसका था, उसके पास चला गया। आप भी जानते थे कि वह आपका नहीं और दर्शक भी जानते थे कि आपका नहीं। दरबार में जिस सुनहरी सिंहासन पर विराजमान होकर आपने भारत के सब राजा महाराजाओं की सलामी ली थी, वह भी वहीं तक था और आप स्वयं भलीभांति जानते हैं कि वह आपका न था। वह भी जहां से आया था वहीं

चला गया। यह सब चीजें खाली नुमायशी थीं। भारतवर्ष में वह पहले ही से मौजूद थीं। क्या इन सबसे आपका कुछ गुण प्रकट हुआ? लोग विक्रम को याद करते हैं या उसके सिंहासन को, अकबर को या उसके तख्त को? शाहजहां की इज्जत उसके गुणों से थी या तख्तेताऊस से? आप जैसे बुद्धिमान पुरुष के लिये यह सब बातें विचार ने की हैं।

चीज वह बनना चाहिये जिसका कुछ देर कयाम हो। मातापिता की याद आते ही बालक शिवशम्भु का सुखस्वप्न भंग हो गया। दरबार समाप्त होते ही वह दरबार-भवन, वह एम्फीथियेटर तोड़कर रख देने की वस्तु हो गया। उधर बनाना, इधर उखाड़ना पड़ा। नुमायशी चीजों का यही परिणाम है। उनका तितलियों का सा जीवन होता है। माई माई लार्ड! आपने कछाड़ के चायवाले साहबों की दावत खाकर कहा था कि यह लोग यहां नित्य हैं और हम लोग कुछ दिन के लिये। आपके वह 'कुछ दिन' बीत गये। अवधि पूरी हो गई। अब यदि कुछ दिन और मिलें तो वह किसी पुराने पुण्यके बल से समझिये। उन्हीं की आशा पर शिवशम्भु शर्मा यह चिट्ठा आपके नाम भेज रहा है, जिससे इन माँगे दिनों में तो एक बार आपको अपने कर्तव्य खयाल हो।

जिस पद पर आप आरूढ़ हुए वह आपका मौरूसी नहीं – नदी नाव संयोग की भांति है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ सम्बन्ध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है, उतने दिन कुछ करने की शक्ति भी है। जो कुछ आपने दिल्ली आदि में कर दिखाया उसमें आपका कुछ भी न था, पर वह सब कर दिखाने की शक्ति आपमें थी। उसी प्रकार जानेसे पहले, इस देश के लिये कोई असली काम कर जाने की शक्ति आप में है। इस देश की प्रजा के हृदय में कोई स्मृति-मन्दिर बना जाने की शक्ति आप में है। पर यह सब तब हो सकता है, कि वैसी स्मृति की कुछ कदर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे धातु की मूर्तियोंके स्मृति चिह्नसे एक दिन किले का मैदान भर जायगा। महारानी का स्मृति-मन्दिर मैदान की हवा रोकता था या न रोकता था, पर दूसरों की मूर्तियां इतनी हो जावेंगी कि पचास पचास हाथ पर हवा को टकराकर चलना पड़ेगा। जिस देश में लार्ड लैंसडौन की मूर्ति बन सकती है, उसमें और किस किसकी मूर्ति नहीं बन सकती? माई लार्ड! क्या आप भी चाहते हैं कि उसके आसपास आपकी एक वैसीही मूर्ति खड़ी हो?

यह मूर्तियां किस प्रकारके स्मृतिचिह्न है? इस दरिद्र देश के बहुत-से धन की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती। एक बार जाकर देखने से ही

विदित होता है कि वह कुछ विशेष पक्षियों के कुछ देर विश्राम लेने के अड्डे से बढ़कर कुछ नहीं है। माई माई लार्ड! आपकी मूर्ति की वहां क्या शोभा होगी? आइये मूर्तियां दिखावें। वह देखिये एक मूर्ति है, जो किले के मैदान में नहीं है, पर भारतवासियों के हृदय में बनी हुई है। पहचानिये, इस वीर पुरुष ने मैदान की मूर्तिसे इस देश के करोड़ों गरीबों के हृदय में मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। यह लार्ड रिपन की मूर्ति है। और देखिये एक स्मृति मन्दिर, यह आपके पचास लाखके संगमरमरवाले से अधिक मजबूत और सैकड़ो गुना कीमती है। यह स्वर्गीया विक्टोरिया महारानी का सन् 1858 ई. का घोषणापत्र है। आपकी यादगार भी यहीं बन सकती है, यदि इन दो यादगारों की आपके जीमें कुछ इज्जत हो।

मतलब समाप्त हो गया। जो लिखना था, वह लिखा गया। अब खुलासा बात यह है कि एक बार 'शो' और ड्यूटी का मुकाबिला कीजिये। 'शो' को 'शो' ही समझिये। 'शो' ड्यूटी नहीं है! माई लार्ड! आपके दिल्ली दरबार की याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जावेगी जितनी शिवशम्भु शर्मा के सिरमें बालकपन के उस सुखस्वप्न की है।

जो अटल है, वह टल नहीं सकती। जो होनहार है, वह होकर रहती है। इसी से फिर दो वर्षके लिये भारत के वैसराय और गवर्नर जनरल होकर लार्ड कर्जन आते है। बहुत से विनोंको हटाते और बाधाओंको भगाते फिर एक बार भारतभूमिमें आपका पदार्पण होता है। इस शुभयात्रा के लिये वह गत नवम्बरको सम्राट् एडवर्ड से भी विदा ले चुके है। दर्शन में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आते है और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारतवासियों का बश चलता तो आपको न आने देते और आपका बश चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ विराजते। पर दोनों ओरकी बाग किसी और ही के हाथ में हैं। निरे बेबश भारतवासियों का कुछ बश नहीं है और बहुत बातों पर बश रखनेवाले लार्ड कर्जनको भी बहुत बातों में बेबश होना पड़ता है। इसी से भारतवासियों को लार्ड कर्जन का आना देखना पड़ता है और उक्त श्रीमान को अपने चलने में विलम्ब देखना पड़ा। कवि कहता है –

'जो कुछ खुदा दिखाये, सो लाचार देखना।'

अभी भारतवासियों को बहुत कुछ देखना है और लार्ड कर्जन को भी बहुत कुछ। श्रीमान को नये शासनकाल के यह दो वर्ष निस्सन्देह देखने की वस्तु होंगे। अभी से भारतवासियों की दृष्टियां सिमटकर उस ओर जा पड़ी हैं। यह जबरदस्त

द्रष्टा लोग अब बहुत काल से केवल निर्लिप्त निराकार तटस्थ द्रष्टा की अवस्थामें अतृप्त लोचन से देख रहे हैं और न जाने कब तक देखे जावेंगे। अथक ऐसे हैं कि कितने ही तमाशे देख गये, पर दृष्टि नहीं हटाते हैं। उन्होंने पृथिवीराज, जयचन्द की तबाही देखी, मुसलमानों की बादशाही देखी। अकबर, बीरबल, खानखाना और तानसेन देखे, शाहजहानी तख्तताऊस और शाही जुलूस देखे। फिर वही तख्त नादिर को उठाकर ले जाते देखा। शिवाजी और औरंगजेब देखे, क्लाइव हेस्टिंग्स से वीर अंग्रेज देखे। देखते-देखते बड़े शौकसे लार्ड कर्जनका हाथियोंका जुलूस और दिल्ली-दरबार देखा। अब गोरे पहलवान मिस्टर सेण्डोका छातीपर कितने ही मन बोझ उठाना देखने को टूट पड़ते हैं। कोई दिखानेवाला चाहिये भारतवासी देखने को सदा प्रस्तुत हैं। इस गुण में वह मोंछ मरोड़कर कह सकते हैं कि संसार में कोई उनका सानी नहीं। लार्ड कर्जन भी अपनी शासित प्रजा का यह गुण जान गये थे, इसीसे श्रीमान्-ने लीलामय रुप धारण करके कितनी ही लीलाएं दिखाई।

इसीसे लोग बहुत कुछ सोच विचार कर रहे हैं कि इन दो वर्षों में भारतप्रभु लार्ड कर्जन और क्या क्या करेंगे। पिछले पांच साल से अधिक समय में श्रीमान्-ने जो कुछ किया, उसमें भारतवासी इतना समझने लगे हैं कि श्रीमान्-की रुचि कैसी है और कितनी बातों को पसन्द करते हैं। यदि वह चाहें तो फिर हाथियों का एक बड़ा भारी जुलूस निकलवा सकते हैं। पर उसकी वैसी कुछ जरूरत नहीं जान पड़ती। क्योंकि जो जुलूस वह दिल्ली में निकलवा चुके हैं, उसमें सबसे ऊंचे हाथी पर बैठ चुके हैं, उससे ऊंचा हाथी यदि सारी पृथिवी में नहीं तो भारतवर्ष में तो और नहीं है। इसीसे फिर किसी हाथी पर बैठने का श्रीमान्-को और क्या चाव हो सकता है? उससे ऊंचा हाथी और नहीं है। ऐरावत का केवल नाम है, देखा किसी ने नहीं है। मेमथ की हड्डियां किसी किसी अजायबखाने में उसी भांति आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हैं, जैसे श्रीमान्-के स्वदेशके अजायबखाने में कोई छोटा मोटा हाथी। बहुत लोग कह सकते हैं कि हाथीकी छोटाई बड़ाई पर बात नहीं, जुलूस निकले तो फिर भी निकल सकता है। दिल्ली नहीं तो कहीं और सही। क्योंकि दिल्ली में आतशबाजी खूब चल चुकी थी, कलकत्ते में फिर चलाई गई। दिल्ली में हाथियों की सवारी हो चुकने पर भी कलकत्ते में रोशनी और घोड़ागाड़ीका तार जमा था। कुछ लोग कहते हैं कि जिस काम को लार्ड कर्जन पकड़ते है, पूरा करके छोड़ते है। दिल्ली दरबार में कुछ बातों की कसर रह गयी थी। उदयपुर के महाराणा न तो हाथियों के

जुलूस में साथ चल सके न दरबार में हाजिर होकर सलामी देने का मौका उनको मिला। इसी प्रकार बड़ोदा नरेश हाथियों के जुलूस में शामिल न थे। वह दरबार में भी आये तो बड़ी सीधी सादी पोशाकमें। इतनी सीधी सादी में जितनी से आज कलकत्ते में फिरते हैं। वह ऐसा तुमतराक और ठाठ-बाठ का समय था कि स्वयं श्रीमान् वैसरायको पतलून तक कारचोबी की पहनना और राजा महाराजों को काठ की तथा ड्यूक आफ कनाट को चांदी की कुरसीपर बिठाकर स्वयं सोने के सिंहासनपर बैठना पड़ा था। उस मौकेपर बड़ौदा नरेश का इतनी सफाई और सादगी से निकल जाना एक नई आन था। इसके सिवा उन्होंने झुकके सलाम नहीं किया था, बड़ी सादगी से हाथ मिलाकर चल दिये थे। यह कई एक कसरें ऐसी हैं, जिनके मिटाने को फिर दरबार हो सकता है, फिर हाथियोंका जुलूस निकल सकता है।

इन लोगोंके विचारमें कलाम नहीं। पर समय कम है, काम बहुत होंगे। इसके सिवा कई राजा महाराजा पहले दरबार ही में खर्च से इतने दब चुके हैं कि श्रीमान् लार्ड कर्जन के बाद यदि दो वैसराय और आवें और पांच पांचकी जगह सात सात साल तक शासन करें, तब तक भी उनका सिर उठाना कठिन है। इससे दरबार या हाथियोंके जुलूसकी फिर आशा रखना व्यर्थ है। पर सुना है कि अबके विद्याका उद्धार श्रीमान् जरूर करेंगे। उपकारका बदला देना महत् पुरुषोंका काम है। विद्या ने आपको धनी किया है, इससे आप विद्या को धनी किया चाहते हैं। इसी से कंगालों से छीनकर आप धनियों को विद्या देना चाहते हैं। इससे विद्या का वह कष्ट मिट जावेगा जो उसे कंगाल को धनी बनाने में होता है। नींव पड़ चुकी है, नमूना कायम होने में देर नहीं। अब तक गरीब पढ़ते थे, इससे धनियोंकी निन्दा होती थी कि वह पढ़ते नहीं। अब गरीब न पढ़ सकेंगे, इससे धनी पढ़े न पढ़े उनकी निन्दा न होगी। इस तरह लार्ड कर्जनकी कृपा उन्हें बेपढ़े भी शिक्षित कर देगी।

और कई काम हैं, कई कमीशनोंके काम का फैसिला करना है, कितनी ही मिशनों की कारवाई का नतीजा देखना है। काबुल है, काश्मीर है, काबुल में रेल चल सकती है, काश्मीर में अंग्रेजी बस्ती बस सकती है। चाय के प्रचार की भांति मोटरगाड़ी के प्रचार की इस देश में बहुत जरूरत है। बंगदेश का पार्टीशन भी एक बहुत जरूरी काम है। सबसे जरूरी काम विक्टोरिया मिमोरियल हाल है। सन् 1858 ई. की घोषणा अब भारतवासियों को अधिक स्मरण रखने की जरूरत न पड़ेगी। श्रीमान् स्मृतिमन्दिर बनवाकर स्वर्गीया महारानी विक्टोरियाका

ऐसा स्मारक बनवा देंगे, जिसको देखते ही लोग जान जावेंगे कि महारानी वह थीं जिनका यह स्मारक है।

बहुत बातें हैं। सबको भारतवासी अपने छोटे दिमागों में नहीं ला सकते। कौन जानता है कि श्रीमान् लार्ड कर्जनके दिमाग में कैसे-कैसे आली खयाल भरे हुए हैं। आपने स्वयं फरमाया थी कि बहुत बातों में हिन्दुस्थानी अंग्रेजों का मुकाबिला नहीं कर सकते। फिर लार्ड कर्जन तो इंग्लैंड के रत्न हैं। उनके दिमाग की बराबरी कर गुस्ताखी करनेकी यहांके लोगों को यह बूढ़ा भंगड़ कभी सलाह नहीं दे सकता। श्रीमान् कैसे आली दिमाग शासक हैं, यह बात उनके उन लगातार कई व्याख्यानों से टपकी पड़ती हैं, जो श्रीमान्ने विलायतमें दिये थे और जिनमें विलायतवासियों को यह समझानेकी चेष्टा की थी कि हिन्दुस्थान क्या वस्तु है? आपने साफ दिखा दिया था कि विलायतवासी यह नहीं समझ सकते कि हिन्दुस्थान क्या है। हिन्दुस्थान को श्रीमान् स्वयं ही समझे हैं। विलायतवाले समझते तो क्या समझते? विलायत में उतना बड़ा हाथी कहां जिसपर वह चंवर छत्र लगाकर चढ़े थे? फिर कैसे समझा सकते कि वह किस उच्च श्रेणीके शासक हैं? यदि कोई ऐसा उपाय निकल सकता, जिससे वह एक बार भारतको विलायत तक खींच ले जा सकते तो विलायतवालोंको समझा सकते कि भारत क्या है और श्रीमान्-का शासन क्या? आश्चर्य नहीं, भविष्यमें ऐसा कुछ उपाय निकल आवे। क्योंकि विज्ञान अभी बहुत कुछ करेगा।

भारतवासी जरा भय न करें, उन्हें लार्ड कर्जनके शासनमें कुछ करना न पड़ेगा। आनन्दही आनन्द है। चैनसे भंग पियो और मौज उड़ाओ। नजीर खूब कह गया है -

कुंडीके नकारे पे खुतकेका लगा डंका।
नित भंग पीके प्यारे दिन रात बजा डंका॥
पर एक प्याला इस बूढ़े ब्राह्मणको देना भूल न जाना।

आपने इस देशमें फिर पदार्पण किया, इससे यह भूमि कृतार्थ हुई। विद्वान बुद्धिमान और विचारशील पुरुषोंके चरण जिस भूमि पर पड़ते हैं, वह तीर्थ बन जाती है। आपमें उक्त तीन गुणोंके सिवा चौथा गुण राजशक्तिका है। अतः आपके श्रीचरण-स्पर्शसे भारतभूमि तीर्थसे भी कुछ बढ़कर बन गई। आप गत मंगलवारको फिरसे भारतके राजसिंहासन पर सम्राट्के प्रतिनिधि बनकर विराजमान हुए। भगवान आपका मंगल करे और इस पतित देशके मंगलकी इच्छा आपके हृदयमें उत्पन्न करे।

बम्बई में पांव रखते ही आपने अपने मन की कुछ बात कह डाली हैं। यद्यपि बम्बई की म्यूनिसिपलिटी ने वह बातें सुनने की इच्छा अपने अभिनन्दन पत्र में प्रकाशित नहीं की थी, तथापि आपने बेपूछे ही कह डालीं। ठीक उसी प्रकार बिना बुलाये यह दीन भंगड़ ब्राह्मण शिवशम्भु शर्मा तीसरी बार अपना चिट्ठा लेकर आपकी सेवामें उपस्थित है। इसे भी प्रजाका प्रतिनिधि होनेका दावा है। इसीसे यह राजप्रतिनिधि के सम्मुख प्रजाका कच्चाचिट्ठा सुनाने आया है। आप सुनिये न सुनिये, यह सुनाकरही जावेगा।

अवश्यही इस देशकी प्रजाने इस दीन ब्राह्मणको अपनी सभामें बुलाकर कभी अपने प्रतिनिधि होनेका टीका नहीं किया और न कोई पट्टा लिख दिया है। आप जैसे बाजाब्ता राज-प्रतिनिधि हैं वैसा बाजाब्ता शिवशम्भु प्रजाका प्रतिनिधि नहीं है आपको सम्राट् ने बुलाकर अपना वैसराय फिरसे बनाया। विलायती गजटमें खबर निकली। वही खबर तार द्वारा भारतमें पहुंची। मार्गमें जगह जगह स्वागत हुआ। बम्बईमें स्वागत हुआ। कलकत्तेमें कई बार गजट हुआ। रेलसे उतरते और राजसिंहासनपर बैठते समय दो बार सलामी की तोपें सर हुईं। कितने ही राजा, नवाब, बेगम आपके दर्शनार्थ बम्बई पहुंचे। बाजे बजते रहे, फौजें सलामी देती रहीं। ऐसी एक भी सनद प्रजा-प्रतिनिधि होनेकी शिवशम्भुके पास नहीं है। तथापि वह इस देशकी प्रजाका यहांके चिथड़ा-पोश कंगालोंका प्रतिनिधि होने का दावा रखता है। क्योंकि उसने इस भूमि में जन्म लिया है। उसका शरीर भारत की मट्टी से बना है और उसी मट्टी में अपने शरीरकी मट्टी को एक दिन मिला देने का इरादा रखता है। बचपन में इसी देश की धूलमें लोटकर बड़ा हुआ, इसी भूमि के अन्न-जलसे उसकी प्राणरक्षा होती है। इसी भूमि से कुछ आनन्द हासिल करने को उसे भंग की चन्द पत्तियां मिल जाती है। गांव में उसका कोई झोंपड़ा नहीं है। जंगल में खेत नहीं है। एक पत्ती पर भी उसका अधिकार नहीं है। पर इस भूमिको छोड़कर उसका संसार में कहीं ठिकाना भी नहीं है। इस भूमि पर उसका जरा स्वत्व न होने पर भी इसे वह अपनी समझता है।

शिवशम्भु को कोई नहीं जानता। जो जानते हैं, वह संसार में एकदम अनजान हैं। उन्हें कोई जानकर भी जानना नहीं चाहता। जानने की चीज शिवशम्भु के पास कुछ नहीं है। उसके कोई उपाधि नहीं, राजदरबार में उसकी पूछ नहीं। हाकिमों से हाथ मिलाने की उसकी हैसियत नहीं, उनकी हां में हां मिलाने की उसे ताब नहीं। वह एक कपर्दक-शून्य घमण्डी ब्राह्मण है। हे राजप्रतिनिधि। क्या उसकी दो चार बातें सुनियेगा?

आपने बम्बई में कहा है कि भारतभूमिको मैं किस्सा-कहानी की भूमि नहीं, कर्तव्यभूमि समझता हूं। उसी कर्तव्यके पालनके लिये आपको ऐसे कठिन समय में भी दूसरी बार भारत में आना पड़ा। इस कर्तव्यभूमिको हमलोग कर्मभूमि कहते है। आप कर्तव्य-पालन करने आये हैं और हम कर्मो का भोग भोगने। आपके कर्तव्य-पालनकी अवधि है, हमारे कर्मभोगकी अवधि नहीं। आप कर्तव्य-पालन करके कुछ दिन पीछे चले जावेंगे। हमें कर्मके भोग भोगते-भोगते यहीं समाप्त होना होगा और न जाने फिर भी कबतक वह भोग समाप्त होगा। जब थोड़े दिनके लिए आपका इस भूमिसे स्नेह है तो हमलोगोंका कितना भारी स्नेह होना चाहिए, यह अनुमान कीजिये। क्योंकि हमारा इस भूमिसे जीने-मरनेका साथ है।

माई लार्ड! यद्यपि आपको इस बातका बड़ा अभिमान है कि अंग्रेजोंमें आपकी भांति भारतवर्ष के विषयमें शासननीति समझने-वाला और शासन करनेवाला नहीं है। यह बात विलायत में भी आपने कई बार हेर-फेर लगाकर कही और इस बार बम्बईमें उतरतेही फिर कही। आप इस देश में रहकर 72 महीने तक जिन बातों की नीव डालते रहे, अब उन्हें 24 मास या उससे कम में पूरा कर जाना चाहते है। सरहदों पर फौलादी दीवार बना देना चाहते हैं, जिससे इस देशकी भूमि को कोई बाहरी शत्रु उठाकर अपने घरमें न लेजावे। अथवा जो शान्ति आपके कथनानुसार धीरे-धीरे यहां संचित हुई है, उसे इतना पक्का कर देना चाहते हैं कि आपके बाद जो वैसराय आपके राजसिंहासनपर बैठे उसे शौकीनी और खेल-तमाशेके सिवा दिनमें और नाच, बाल या निद्राके सिवा रातको कुछ करना न पड़ेगा। पर सच जानिये कि आपने इस देशको कुछ नहीं समझा, खाली समझनेकी शेखीमें रहे और आशा नहीं कि इन अगले कई महीनोंमें भी कुछ समझें। किन्तु इस देशने आपको खूब समझ लिया और अधिक समझनेकी जरूरत नहीं रही। यद्यपि आप कहते हैं, कि यह कहानीका देश नहीं कर्तव्यका देश है, तथापि यहांकी प्रजा ने समझ लिया है कि आपका कर्तव्य ही कहानी है। एक बड़ा सुन्दर मेल हुआ था, अर्थात आप बड़े घमण्डी शासक हैं और यहां की प्रजा के लोग भी बड़े भारी घमण्डी। पर कठिनाई इसी बात की है कि दोनों का घमण्ड दो तरहका है। आपको जिन बातों का घमण्ड है, उनपर यहांके लोग हँस पड़ते हैं। यहांके लोगों को जो घमण्ड है, उसे आप समझते नहीं और शायद समझेंगे भी नहीं।

जिन आडम्बरोंको करके आप अपने मनमें बहुत प्रसन्न होते हैं या यह समझ बैठते हैं कि बड़ा कर्तव्य-पालन किया, वह इस देशकी प्रजाकी दृष्टिमें कुछ भी नहीं है। वह इतने आडम्बर देख सुन चुकी और कल्पना कर चुकी है कि और किसी आडम्बरका असर उस पर नहीं हो सकता। आप सरहद को लोहे की दीवार से मजबूत करते हैं। यहां की प्रजा ने पढ़ा है कि एक राजाने पृथिवीको काबू में करके स्वर्गमें सीढ़ी लगानी चाही थी। आप और लार्ड किचनर मिलकर जो फौलादी दीवार बनाते हैं, उससे बहुत मजबूत एक दीवार लार्ड केनिंग बना गये थे। आपने भी बम्बईकी स्पीचमें केनिंग का नाम लिया है। आज 46 साल हो गये, वह दीवार अटल अचल खड़ी हुई है। वह स्वर्गीया महाराणीका घोषणापत्र है, जो 1 नवम्बर 1858 ई. को केनिंग महोदयने सुनाया था। वही भारतवर्षके लिये फौलादी दीवार है। वही दीवार भारत की रक्षा करती है। उसी दीवारको भारतवासी अपना रक्षक समझते हैं। उस दीवारके होते आपके या लार्ड किचनरके कोई दीवार बनाने की जरूरत नहीं है। उसकी आड़ में आप जो चाहे जितनी मजबूत दीवारों की कल्पना कर सकते हैं। आडम्बर से इस देशका शासन नहीं हो सकता। आडम्बरका आदर इस देशकी कंगाल प्रजा नहीं कर सकती। आपने अपनी समझ में बहुत-कुछ किया, पर फल यह हुआ कि विलायत जाकर वह सब अपने ही मुंहसे सुनाना पड़ा। कारण यह कि करने से कहीं अधिक कहनेका आपका स्वभाव है। इससे आपका करना भी कहे बिना प्रकाशित नहीं होता। यहां की अधिक प्रजा ऐसी है, जो अबतक भी नहीं जानती कि आप यहां के वैसराय और राजप्रतिनिधि हैं और आप एक बार विलायत जाकर फिर से भारत में आये हैं। आपने गरीब प्रजा की ओर न कभी दृष्टि खोलकर देखा, न गरीबों ने आपको जाना। अब भी आपकी बोतों से आपकी वह चेष्टा नहीं पायी जाती। इससे स्मरण रहे कि जब अपने पद को त्यागकर आप फिर स्वदेश में जावेंगे तो चाहे आपको अपने कितनेही गुण कीर्तन करनेका अवसर मिले, यह तो कभी न कह सकेंगे कि कभी भारत की प्रजाका मन भी अपने हाथमें किया था।

यह वह देश है, जहांकी प्रजा एक दिन पहले रामचन्द्र के राजतिलक पानेके आनन्द में मस्त थी और अगले दिन अचानक रामचन्द्र वन को चले तो रोती रोती उनके पीछे जाती थी। भरत को उस प्रजा का मन प्रसन्न करनेके लिये कोई भारी दरबार नहीं करना पड़ा, हाथियों का जुलूस नहीं निकलना पड़ा, बरंच दौड़कर वन में जाना पड़ा और रामचन्द्र को फिर अयोध्या में लाने का यत्न करना पड़ा। जब वह न आये तो उनकी खड़ाऊं को सिरपर धरकर अयोध्या तक आये

और खड़ाउओं को राजसिंहासन पर रखकर स्वयं चौदह सालतक वल्कल धारण करके उनकी सेवा करते रहे। तब प्रजा ने समझा कि भरत अयोध्याका शासन करने के योग्य है।

निबंध

शिवशंभु के चिट्ठे

माई लार्ड! सौ साल पूरे होनेमें अभी कई महीनोंकी कसर है। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनीने लार्ड कार्नवालिसको दूसरी बार इस देशका गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा था। तबसे अब तक आपहीको भारतवर्षका फिरसे शासक बनकर आनेका अवसर मिला है। सौ वर्ष पहलेके उस समयकी ओर एक बार दृष्टि कीजिये। तबमें और अबमें कितना अन्तर हो गया है, क्यासे क्या हो गया है? जागता हुआ रंक अति चिन्ताका मारा सोजावे और स्वप्नमें अपनेको राजा देखे, द्वार पर हाथी झूमते देखे अथवा अलिफलैला के अगुजहसन की भांति कोई तरल युवक प्याले पर प्याला उड़ाता घरमें बेहोश हो और जागने पर आंखें मलते-मलते अपनेको बगदाद का खलीफा देखे, आलीशान सजे महल की शोभा उसे चक्करमें डाल दे, सुन्दरी दासियोंके जेवर और कामदार वस्त्रोंकी चमक उसकी आंखों में चकाचौंध लगा दे तथा सुन्दर बाजों और गीतोंकी मधुर ध्वनि उसके कानों में अमृत ढालने लगे, तब भी उसे शायद आश्चर्य न हो जितना सौ साल पहलेकी भारतमें अंगरेजी राज्यकी दशाको आजकलकी दशाके साथ मिलानेसे हो सकता है।

जुलाई सन् 1805 ई. में लार्ड कार्नवालिस दूसरी बार भारत के गवर्नर जनरल होकर कलकत्तेमें पधारे थे। उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनीकी सरकार पर चारों ओर से चिन्ताओं की भरमार हो रही थी, आशंकाएं उसे दम नहीं लेने देती थीं। हुलकरसे एक नई लड़ाई होनेकी थी, सेन्धियासे लड़ाई चलती थीं। खजानेमें बरकतही बरकत थीं। जमीनका कर वसूल होनेमें बहुत देर थी। युद्धस्थलमें लड़नेवाली सेनाओंको पांच पांच महीनेसे तनखाह नहीं मिली थी। विलायतके धनियोंमें कम्पनीका कुछ विश्वास न था। सत्तर सालका बूढ़ा गवर्नर जनरल यह सब बातें देखकर घबराया हुआ था। उससे केवल यही बन पड़ा कि दूसरी बार पदारूढ़ होनेके तीनही मास पीछे गाजीपुरमें जाकर प्राण देदिया। कई दिन तक इस बातकी खबर भी लोगोंने नहीं जानी। आज विलायतसे भारत तक

दिनमें कई बार तार दौड़ जाता है। कई एक घंटोंमें शिमलेसे कलकत्ते तक स्पेशल ट्रेन पार हो जाती है। उस समय कलकत्तेसे गाजीपुर तक जाने में बड़ेलाटको कितनेही दिन लगे थे। गाजीपुरमें उनके लिये कलकत्तेसे जल्द किसी प्रकारकी सहायता पहुंचनेका कुछ उपाय न था।

किन्तु अब कुछ और ही समय है। माई लार्ड! लार्ड कार्नवालिसके दूसरी बार गवर्नर जनरल होकर भारतमें आने और आपके दूसरी बार आनेमें बड़ा अन्तर है। प्रताप आपके साथ साथ है। अंग्रेजी राज्यके भाग्यका सूर्य मध्यान्हमें है। उस समयके बड़ेलाटको जितने दिन कलकत्तेसे गाजीपुर जानेमें लगे होंगे, आप उनसे कम दिनोंमें विलायतसे भारतमें पहुंच गये। लार्ड कार्नवालिसको आतेही दो एक देशी रईसोंके साथ लड़ाई करनेकी चिन्ता थी, आपके स्वागतके लिये कोड़ियों राजा, रईस बम्बई दौड़े गये और जहाजसे उतरतेही उन्होंने आपका स्वागत करके अपने भाग्यको धन्य समझा। कितनेही बधाई देने कलकत्ते पहुंचे और कितने और चलेआरहे हैं। प्रजाकी चाहे कैसीही दशा हो, पर खजानेमें रुपये उबले पड़ते हैं। इसके लिये चारों ओरसे आपकी बड़ाई होती है। साख इस समयकी गवर्नमेण्टकी इतनी है कि विलायतमें या भारतमें एक बार 'हूं' करतेही रुपयेकी वर्षा होने लगती है। विलायती मन्त्री आपकी मुट्ठीमें हैं। विलायतकी जिस कन्सरवेटिव गवर्नमेण्टने आपको इस देशका वैसराय किया, वह अभी तक बराबर शासनकी मालिक है। लिबरल निर्जीव हैं। जान ब्राइट, ग्लाडष्टोन, ब्राडला, जैसे लोगोंसे विलायत शून्य है, इससे आप परम स्वतन्त्र हैं। इण्डिया आफिस आपके हाथकी पुतली है। विलायतके प्रधानमन्त्री आपके प्रियमित्र हैं। जो कुछ आपको करना है, वह विलायतमें कई मास रहकर पहलेही वहांके शासकोंसे निश्चय कर चुके हैं। अभी आपकी चढ़ती उमर है। चिन्ता कुछ नहीं है। जो कुछ चिन्ता थी, वह भी जल्द मिट गई। स्वयं आपकी विलायतके बड़े भारी बुद्धिमानों और राजनीति-विशारदोंमें गिनती है, वरंच कह सकते हैं कि विलायतके मन्त्री लोग आपके मुंहकी ओर ताकते हैं। सम्राट्का आप पर बहुत भारी विश्वास है। विलायतके प्रधान समाचारपत्र मानो आपके बन्दीजन हैं। बीच-बीचमें आपका गुणग्राम सुनाना पुण्यकार्य समझते हैं। सारांश यह कि लार्ड कार्नवालिसके समय और आपके समयमें बड़ाही भेद होगया है।

संसारमें अब अंग्रेजी प्रताप अखण्ड है। भारतके राजा अब आपके हुक्मके बन्द हैं। उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिये, चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलवाइये, जो चाहे सो

कीजिये, वह हाजिर हैं। आपके हुक्मकी तेजी तिब्बतके पहाड़ोंकी बरफको पिघलाती है, फारिसकी खाड़ीका जल सुखाती है, काबुलके पहाड़ोंको नर्म करती है। जल, स्थल, वायु, और आकाशमण्डलमें सर्वत्र आपकी विजय है। इस धराधाममें अब अंग्रेजी प्रतापके आगे कोई उंगुली उठानेवाला नहीं है। इस देशमें एक महाप्रतापी राजाके प्रतापका वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहां जल भरता था, पवन उसके यहां चक्की चलाता था, चांद सूरज उसके यहां रोशनी करते थे, इत्यादि। पर अंग्रेजी प्रताप उससे भी बढ़ गया है। समुद्र अंग्रेजी राज्यका मल्लाह है, पहाड़ोंकी उपत्यकाएं बैठनेके लिए कुर्सी मूढ़े। बिजली कलें चलानेवाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़नेवाली दूती, इत्यादि इत्यादि।

आश्चर्य है माई लार्ड! एक सौ सालमें अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी प्रतापकी तो इतनी उन्नति हो पर उसी प्रतापी बृटिश राज्यके अधीन रहकर भारत अपनी रही सही हैसियत भी खो दे। इस अपार उन्नतिके समयमें आप जैसे शासकके जीमें भारतवासियोंको आगे बढ़ानेकी जगह पीछे धकेलनेकी इच्छा उत्पन्न हो। उनका हौंसला बढ़ानेकी जगह उनकी हिम्मत तोड़नेमें आप अपनी बुद्धिका अपव्यय करें। जिस जातिसे पुरानी कोई जाति इस धराधाम पर मौजूद नहीं, जो हजार सालसे अधिककी घोर परधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्याकी आलोचना करके विद्वान् और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं जिसने सदियों इस पृथिवीपर अखण्ड-शासन करके सभ्यता और मनुष्यत्वका प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटाने और धूलमें मिला देनेके योग्य है? आप जैसे उच्च श्रेणीके विद्वान्-के जीमें यह बात कैसे समाई कि भारतवासी बहुत-से काम करनेके योग्य नहीं और उनको आपके सजातीयही कर सकते हैं? आप परीक्षाकरके देखिये कि भारतवासी सचमुच उन ऊंचेसे ऊंचे कामों को कर सकते हैं या नहीं, जिनको आपके सजातीय कर सकते हैं। श्रममें, बुद्धिमें, विद्यामें, काममें, वक्तृतामें, सहिष्णुतामें, किसी बातमें इस देशके निवासी संसारमें किसी जातिके आदमियोंसे पीछे रहनेवाले नहीं हैं। वरंच दो एक गुण भारतवासियोंमें ऐसे हैं कि संसार भरमें किसी जातिके लोग उनका अनुकरण नहीं कर सकते। हिन्दुस्थानी फारसी पढ़के ठीक फारिसवालोंकी भांति बोल सकते हैं, कविता कर सकते हैं। अंग्रेजी बोलनेमें वह अंग्रेजोंकी पूरी नकल कर सकते हैं, कण्ठ तालूको अंग्रेजोंके सदृश बना सकते हैं। पर एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है, जो हिन्दुस्थानियोंकी भांति साफ हिन्दी बोल सकता हो। किसी बातमें हिन्दुस्थानी पीछे रहनेवाले नहीं हैं। हां दो बातोंमें वह अंग्रेजोंकी नकल या

बराबरी नहीं कर सकते हैं। एक तो अपने शरीरके काले रंगको अंग्रेजोंकी भांति गोरा नहीं बना सकते और दूसरे अपने भाग्यको उनके भाग्यमें रगड़कर बराबर नहीं कर सकते।

किन्तु इस संसारके आरम्भमें बड़ा भारी पार्थक्य होने पर भी अन्तमें बड़ी भारी एकता है। समय अन्तमें सबको अपने मार्ग पर ले आता है। देशपति राजा और भिक्षा माँगकर पेट भरनेवाले कंगालका परिणाम एकही होता है। मट्टी मट्टीमें मिल जाती है और यह जीतेजी लुभानेवाली दुनिया यहीं रह जाती है। कितनेही शासक और कितनेही नरेश इस पृथिवी पर होगये, आज उनका कहीं पता निशान नहीं है। थोड़े थोड़े दिन अपनी अपनी नौबत बजा गये चले गये। बड़ी तलाशसे इतिहासके पन्नों अथवा टूटे फूटे खण्डहरोंमें उनके दो चार चिह्न मिल जाते हैं। माई लार्ड! बीते हुए समय को फिर लौटा लेनेकी शक्ति किसी में नहीं है, आपमें भी नहीं है। दूरकी बात दूर रहे, इन पिछले सौ साल ही में कितने बड़े लाट आये और चले गये। क्या उनका समय फिर लौट सकता है? कदापि नहीं। विचारिये तो मानो कल आप आये थे, किन्तु छरू साल बीत गये। अब दूसरी बार आनेके बाद भी कितनेही दिन बीत गये तथा बीत जाते हैं। इसी प्रकार उमरें बीत जावेंगी, युग बीत जावेंगे। समयके महासमुद्रमें मनुष्यकी आयु एक छोटी-सी बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकती। आप में शक्ति नहीं है कि पिछले छः वर्षों को लौटा सकें या उनमें जो कुछ हुआ है उसे अन्यथा कर सकें। दो साल आपके हाथमें अवश्य हैं। इनमें जो चाहें कर सकते हैं। चाहें तो इस देश की 30 करोड़ प्रजाको अपनी अनुरक्त बना सकते हैं और इस देशके इतिहास में अच्छे वैसरायो ंमें अपना नाम छोड़ जा सकते हैं। नहीं तो यह समय भी बीत जावेगा और फिर आपका करने धरनेका अधिकारही कुछ न रहेगा।

विक्रम, अशोक अकबरके यह भूमि साथ नहीं गई। औरंगजेब, अलाउद्दीन इसे मुट्ठी में दबा कर नहीं रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर, इसे लूटके मालके साथ ऊंटों और हाथियों पर लाद कर न ले जासके। आगे भी यह किसी के साथ न जावेगी, चाहे कोई कितनी ही मजबूती क्यों न करे। इस समय भगवान से इसे एक औरही जातिके हाथमें अर्पण किया है, जिसकी बुद्धि विद्या और प्रतापका संसार भरमें डंका बज रहा है। माई लार्ड! उसी जाति की ओरसे आप इस देशकी 30 करोड़ प्रजाके शासक हैं।

अब यह विचारना आप ही के जिम्मे है कि इस देशकी प्रजाके साथ आपका क्या कर्तव्य है। हजार सालसे यह प्रजा गिरी दशा में है। क्या आप चाहते

हैं कि यह और भी सौ पचास साल गिरती चली जावे? इसके गिरानेमें बड़े से बड़ा इतना ही लाभ है कि कुछ संकीर्णहृदय शासकोंकी यथेच्छाचारिता कुछ दिन और चल सकती है। किन्तु इसके उठाने और सम्हालने में जो लाभ हैं, उनकी तुलना नहीं हो सकती है। इतिहास में सदा नाम रहेगा कि अंग्रेजों ने एक गिरी जातिके तीस करोड़ आदयियों को उठाया था। माई लार्ड! दोनों मे जो बात पसन्द हो, वह कर सकते हैं। कहिये क्या पसन्द है? पीछे हटाना या आगे बढ़ाना?

6

पूर्णसिंह

पूर्णसिंह भारत के देशभक्त, शिक्षाविद, अध्यापक, वैज्ञानिक एवं लेखक थे। वे पंजाबी कवि थे और आधुनिक पंजाबी काव्य के संस्थापकों में उनकी गणना होती है। द्विवेदी युग के श्रेष्ठ निबंधकार सरदार पूर्ण सिंह का जन्म सीमा प्रांत जो अब पाकिस्तान में है के एबटाबाद इटावा जिले सलहद गांव में 17 फरवरी सन् 1881 ईसवी में हुआ था उनके पिता का नाम सरदार करतार सिंह भागर था उनके पिता एक सरकारी कर्मचारी थे। पूर्ण सिंह अपने माता पिता के जेष्ठ पुत्र थे उनकी पत्नी का नाम मायादेवी था हाईस्कूल की शिक्षा उतीर्ण करने के पश्चात लाहौर चले गए लाहौर के एक कॉलेज में इन्होंने एफ ए की परीक्षा की उतीर्ण की इसके बाद विशेष छात्रवृत्ति प्राप्त कर सन्1900 ईसवी में रसायन शास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए जापान गए और वहां इंपीरियल यूनिवर्सिटी में अध्ययन करने लगे जब जापान में होने वाले विश्व धर्म सभा में भाग लेने के लिए स्वामी रामतीर्थ वहां पहुंचे तो उन्होंने वहां अध्ययन कर रहे भारतीय विद्यार्थी से भी भेंट की इसी क्रम में सरदार पूर्ण सिंह से स्वामी रामतीर्थ की भेंट हुई स्वामी रामतीर्थ से प्रभावित होकर इन्होंने वही सन्यास ले लिया और स्वामी जी के साथ बाद भारत लौट आएं स्वामी जी की मृत्यु के बाद उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और इन्होंने विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया इनको देहरादून के एक बहुत अच्छी यूनिवर्सिटी में अध्यापक पद पर सात सौ रुपए महीने की तनख्वाह मिलने लगी यहीं से इनके नाम के

आगे अध्यापक शब्द जुड़ गया यह स्वतंत्र प्रवृति के व्यक्ति थे इसलिए नौकरी को निभा नहीं सके और त्याग पत्र दे दिया इसके बाद यह ग्वालियर चले गए वहां उन्होंने सिखों के 10 गुरु और स्वामी रामतीर्थ की जीवनी अंग्रेजी में लिखी ग्वालियर में इनका मन ना लगा तब यह पंजाब के एक गांव में खेती करने लगे खेती में हानि हुई और अर्थ संकट में पड़ कर नौकरी की तलाश में इधर–उधर भटकने लगे उनका संबंध क्रांतिकारियों से भी था अपने भारत के लिए इन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य किए। देहली षड्यंत्र के मुकदमे में मास्टर अमीरचंद के साथ उनको भी पूछताछ के लिए बुलाया गया किंतु इन्होंने मास्टर अमीरचंद के साथ अपना किसी प्रकार का संबंध होने से इंकार कर दिया वास्तव में मास्टर अमीरचंद स्वामी रामतीर्थ के परम भक्त और गुरु भाई थे ।प्राणों की रक्षा के लिए उन्होंने न्यायालय में झूठा बयान दिया। इस घटना का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था और भीतर ही भीतर यह पश्चाताप की अग्नि में जलते रहे इस कारण भी यह अच्छी तरीके से जीवन नहीं जी सकें और हिंदी साहित्य की एक बड़ी प्रतिभा पूरी शक्ति से हिंदी की सेवा नहीं कर सकी सन 25 मार्च 1931 इसी में उनकी मृत्यु हो गई सरदारपुर के हिंदी में कुछ है निबंध उपलब्ध है 1 सच्ची वीरता 2 आचरण की सभ्यता 3मजदूरी और प्रेम 4 अमेरिका का मस्त योगी वॉलट हिटमैन 5 कन्यादान 6 पवित्रता इन्हीं निबंध के बल पर इन्होंने हिंदी गद्य साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थाई स्थान बना लिया है, इन्होंने निबंध रचना के लिए मुख्य रूप से नैतिक विषय को ही चुना, सरदार पूर्णसिंह के निबंध विचारात्मक होते हुए भावात्मक कोटि में आते हैं, सरदार पूर्ण सिंह सिंह की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है, किंतु उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ साथ फारसी अंग्रेजी के शब्द में प्रयुक्त है उन की निबंध शैली के अनेक दृश्य से निजी शैली है उनके विचार भावुकता की लपेट में लिपटे हुए होते हैं

जीवन परिचय

पूर्णसिंह पश्चिम सीमाप्रांत (अब पाकिस्तान में) के हजारा जिले के मुख्य नगर एबटाबाद के समीप सलहद ग्राम में 17 फरवरी 1881 को आपका जन्म हुआ। पिता सरदार करतार सिंह भागर सरकारी कर्मचारी थे। उनके पूर्वज जिला रावलपिंडी की कहूटा तहसील के ग्राम डेरा खालसा में रहते थे। रावलपिंडी जिले का यह भाग 'पोठोहार' कहलाता है और अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिये आज भी प्रसिद्ध है। पूर्णसिंह अपने माता पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। कानूनगो होने से पिता को सरकारी कार्य

से अपनी तहसील में प्रायः घूमते रहना पड़ता था, अतः बच्चों की देखरेख का कार्य प्रायः माता को ही करना पड़ता था। पूर्णसिंह की प्रारंभिक शिक्षा तहसील हवेलियाँ में हुई। यहाँ मस्जिद के मौलवी से उन्होंने उर्दू पढ़ी और सिख धर्मशाला के भाई बेलासिंह से गुरुमुखी। रावलपिंडी के मिशन हाई स्कूल से 1897 में एंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। सन् 1899 में डी. ए. वी. कालेज, लाहौर, 28 सितंबर, 1900 को वे तोकियो विश्वविद्यालय (जापान) के फैकल्टी ऑव मेडिसिन में औषधि निर्माण संबंधी रसायन का अध्ययन करने के लिये 'विशेष छात्र' के रूप में प्रविष्ट हो गए और वहाँ उन्होंने पूरे तीन वर्ष तक अध्ययन किया। 1901 ई में तोकियो के 'ओरिएंटल क्लब में भारत की स्वतंत्रता के लिये सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से कई उग्र भाषण दिए तथा कुछ जापानी मित्रों के सहयोग से भारत-जापानी-क्लब की स्थापना की। तोकियो में वे स्वामी जी के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनका शिष्य बनकर उन्होंने सन्यास धारण कर लिया। तोकियो के आवासकाल में लगभग डेढ़ वर्ष तक उन्होंने एक मासिक पत्रिका 'थंडरिंग डॉन' का संपादन किया। सितंबर, 1903 में भारत लौटने पर कलकत्ते में उस समय के ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उत्तेजनात्मक भाषण देने के अपराध में वे बंदी बना लिए गए किंतु बाद में मुक्त कर दिए गए।

एबटाबाद में कुछ समय बिताने के बाद वे लाहौर चले गए। यहाँ उन्होंने विशेष प्रकार के तेलों का उत्पादन आरंभ किया, किंतु साझा निभा नहीं सका। तब वे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मायादेवी के साथ मसूरी चले गए और वहाँ से स्वामी रामतीर्थ से मिलने टिहरी गढ़वाल में वशिष्ठ आश्रम गए। वहाँ से लाहौर लौटने पर अगस्त, 1904 ई. में विक्टोरिया डायमंड जुबली हिंदू टेक्नीकल इंस्टीट्यूट के प्रिंसिपल बन गए और 'थंडरिंग डॉन' पुनः निकालने लगे। 1905 में कांगड़ा के भूकंपपीड़ितों के लिये धन संग्रह किया और इसी प्रसंग में प्रसिद्ध देशभक्त लाला हरदयाल और डॉक्टर खुदादाद से मित्रता हुई जो उत्तरोत्तर घनिष्ठता में परिवर्तित होती गई तथा जीवनपर्यंत स्थायी रही। स्वामी रामतीर्थ के साथ उनकी अंतिम भेंट जुलाई 1906 में हुई थी। 1907 के आरंभ में वे देहरादून की प्रसिद्ध संस्था वन अनुसंधानशाला (फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट) में रसायन (केमिस्ट्री) के प्रमुख परामर्शदाता नियुक्त किए गए। इस पद पर उन्होंने 1918 तक कार्य किया। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात, पटियाला, ग्वालियर, सरैया (पंजाब) आदि स्थानों पर थोड़े थोड़े समय तक कार्य करते रहे। उन्होंने जिला शेखूपुरा (अब पश्चिमी पाकिस्तान) की तहसील ननकाना साहब के पास

कृषि कार्य शुरू किया और 1926 से 1930 तक वे वहीं रहे। नवंबर, 1930 में वे बीमार पड़े। रोग ने असाध्य तपेदिक का रूप धारण कर लिया और मार्च 31, 1931 को देहरादून में उनका शरीरांत हो गया।

कृतियाँ

अध्यापक पूर्णसिंह ने अपने प्रारंभिक जीवन में ही उर्दू, पंजाबी, फारसी, संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी भाषा में सर्वत्र विशेष प्रकार का प्रवाह लक्षित होता है। उनकी सबसे अधिक रचनाएँ अंग्रेजी में हैं। देहरादून की वन अनुसंधानशाला (फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट) में कार्यकाल (1907-1918) के समय में उन्होंने अंग्रेजी में वैज्ञानिक विषयों से संबधित बहुत से शोधपूर्ण लेख लिखे। इस प्रकार के उनके प्रकाशित लेखों की संख्या पचास से ऊपर है। अंग्रेजी में उन्होंने जीवनी, 'द स्टोरी ऑव स्वामी राम' 1924 य 'दि स्केचेज फ्राम सिख हिस्ट्री', 'ऐट हिज फीट' 1922), 'शॉर्ट स्टोरीज', 'वीणाप्लेयर्स', 'सिस्टर्स ऑव दि स्पिनिंग]वील' 1921), 'गुरु गोविंदसिंह' (1913), 'दि लाइफ एंड टीचिंग्स आव श्री गुरु तेगबहादुर', (1908), 'ऑन दि पाथ्य ऑव लाइफ' 1927-30) प्रभृति रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। उर्दू में उनकी 'स्वामी रामतीर्थ महाराज की असली जिंदगी पर तैराना नजर' (1906) यह एक ही रचना मिलती है। पंजाबी में उन्होंने पर्याप्त लिखा है और सुंदर लिखा है। उनके कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं–अविचल जोत, खुले मैदान, खुले घुंड, मेरा साईकविदा दिल कविता, चुप प्रीतदा शहंशाह विओपारी, खुले लेख, निबंध (1929) आदि।

हिंदी में लिखे पूर्णसिंह के केवल छह निबंध ही मिलते हैं। वे हैं–सच्ची वीरता, कन्यादान, पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम और अमरीका का मस्ताना योगी वाल्ट व्हिटमैन। ये निबंध सरस्वती में प्रकाशित हुए थे और इनके कारण ही सरदार पूर्णसिंह ने हिंदी के निबंधकारों में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

मजदूरी और प्रेम

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला

है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियों-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता, संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते, ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं, मंदिर, मस्जिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं नहीं, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और खेत जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गाँवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः दिन और रात विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्‌भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो इसका इसे ज्ञान नहीं होताय क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उसके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उसके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है - 'भोले भाव मिलें रघुराई', भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु

हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों के दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों को पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं और क्यों न सुफेद हों? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर हे, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उनकी सुनहली किरणें इसके लिए लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो।

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्द-रहित संकल्प-रहित मौन प्रार्थन में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिरे और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा - 'भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।श' ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जायँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्‌भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा - 'यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।' वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे।

वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है। अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है, जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंत:करण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है - एक दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने के लिए मिलेगा। जब वह थक जाती हे तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत 'हे राम' कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं - मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दु:ख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम - प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख इतनी सदियों के बाद भी उनके अंत:करण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु साथ ही उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना

कि बस्ती ओर 'मशान में। हाथ की मेहनत से चित्रों में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेमप्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गदगद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी-सी छिटकाई इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारा से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर परय एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्‌भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं! सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो - आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे यही आर्ट है - यही धर्म है। मनुष्य के हाथ से ही ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्रप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर

टोकरी नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रंगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दसों दिशाओं में ऐसा अद्‌भुत गान करेगा कि भविष्य के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मल्हार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे, तभी नए औलियों का उद्‌भव होगा। परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक है। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं, परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है, जल बह रहा है, बादल बरस रहा है, पक्षी नहा रहे हैं, फूल खिल रहे हैं, घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए - मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूल की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंत:करण को तरोताजा करना है और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु, संन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस साल वाले ताजे हैं। इनकी लाली नई

है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटतेय वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप परिणाम है, आमा रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आप को किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है, क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है, जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान, निरोग और रूपवान कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है, क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है। परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमता तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत में, इसको गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप

है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है, जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव आर्क की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंग महलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्माज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान श्रीकृष्ण का कूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना – सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करने वाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्र करते-करते लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा – आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया – भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरुनानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ

बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्‌भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। उन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चौतन्यचिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं! कविता फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता, जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करने वाले कला-कौशल, अर्थात कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान बुद्ध के निवार्ण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरीय परंतु मन के गुप्त भावों और अंत:करण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चौतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात वहाँ

वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं – वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-राजा के मूर्ति-पूजा किंवा, कृष्ण और शालिग्राम के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है, जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शाने वाले देवता रस्किन और टालस्टॉय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है। वहाँ के गंभीर विचार वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और हो क्यों न? इंजनों के पहिए के नीचे दबकर वहाँ वालों के भाई-बहन – नहीं नहीं उनकी सारी जाति पिस गईय उनके जीवन के धुरे टूट गए, उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है! सर्दी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परंतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए – मजदूरों को सुख देने के लिए – परंतु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं है, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का अलिंगन करने की। पश्चिम वालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हें नहीं

छोड़ती। देखेंगे पूर्व वाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हम मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम वालों को वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर आओ पश्चिम से आने वाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नंगा रखती है और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनंद-मंगल का एक साधारण-सा और महातुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है, अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देने वालों को मारकर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है, जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़ी से काटना है। अपने प्रियजनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चौतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चौतन्य-पूजा ही से मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजस्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल

आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य, और संगीत को अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान, विशाल आत्मा के आचरण से मौन रूपिणी, सुगन्धि सदा प्रसारित हुआ करती है, इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाते हैं। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के काले बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद ऋतु क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य

नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुंदरता को पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को - मन के लक्ष्य को - ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद-मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात एक क्षण की तरह गुजार दीय यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण - प्रभाव, शील, अचल-स्थित संयुक्त आचरण - न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गढ़ा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश सेय न अंजील सेय न कुरान सेय न धर्मचर्चा सेय न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में धंसे हुए पुरुष पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बांधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊंचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है, परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊंचे कलश वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गयी, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगेय परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहां इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी है, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत की भिन्न-भिन्न जातियों

को संस्कृत भाषा न बुला सके – न समझा सके – न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। यह केवल आचरण के कान में गुरुमंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय, तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आंधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पंखुड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जायय जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायँय बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जायय सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ – परंतु अंगरेजी भाषा का व्याख्यान – चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो – बनारस में पंडितों के लिए रामलीला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रर्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें व्याख्यानों के द्वारा, उपदेशों के द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता – प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो, हर गिरजे, हर मंदिर और हर मस्जिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है – मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है – मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए – चाहे वह कन्या जिस जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो – अपने आपको गंगा में फेंक दे – चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहें चाहे जायं – तो इस कार्य में प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, दया का आचरण – क्या पशु क्या मनुष्य – जगत के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य ही सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसमें आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊंच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और

अवनति इत्यादि सहायता पहुंचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र और पवित्रता। जो कुछ जगत में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है, जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रत्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान पा सके हैं। जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकल ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक यह जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आये, तब तक ज्योति और वायु किस काम के?

वह आचरण ही धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनाता है, हम में कहां? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों का कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्र, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबकी (सबका) क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संघटनकर्ता धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सब को एक पथ नहीं बता

सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूं तब तक मुझे यदि ईश्वर का ज्ञान नहीं तो नहीं होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूं तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नहीं होता तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो - बरफ हो - बिजली की कड़क हो - समुद्र का तूफान हो - वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परंतु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरणों का यह अंश मेरे तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूं और न किसी मंदिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूं और न ही रोजा रखता हूं, न संध्या ही करता हूं और न कोई देव-पूजा ही करता हूं, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। तो इससे प्रयोजन ही क्या और इससे हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूं, अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूं, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की संगति में गुजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देताय हाँ यदि कोई मुझे धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है,

कमर के लिए लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान हैं, शरीर मेरा अरोग्य है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और बच्चों को खाने के लिए मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सच्चाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया - जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा सका। ऐंग्लोसेक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया बस उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखने वाले जीवन से ही प्राप्त किया। जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं, केवल धर्म ही जाति की उन्नति करता है। यह ठीक है, परंतु यह धर्माकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने पापमय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मंद-मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन जिसको देश-देशांतरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलतीय जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज रकने के बिना मंद नहीं पड़ती - केवल वहीं विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिनहुड की प्रशंसा में जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए, क्योंकि राबिनहुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड्डियां तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान - गोला, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि - को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसमें वह प्रकाश और वायु सदा खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा

फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत-से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बांधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम - क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या जगत का - सारी प्रकृति को खाद बनाये बिना सारी प्रकृति को हवा में उड़ाये बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ानाय उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकाला है—सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे-बिठाये भी वह मिल सकता है?

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान श्रेणी के मनुष्य होते - तो उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है, परंतु ऋषियों की अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरप में, सभी असभ्य थे, परंतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात अपनी ऊंची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरण वाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है, आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी, को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की

आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-बड़ी दो रोटियां से प्रतीत होता है। कुटिया में ही बैठकर धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है तब तक ज्ञानवान के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं - तब तक जगत में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहां कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहां धनवान है और न ही कोई वहां निर्धन। वहां प्रकृति का नाम नहीं, वहां तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनायी देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रहलाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहां ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपीटिक (त्रिपिटक) में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश्य होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें।

7

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' हिन्दी के कथाकार, व्यंगकार तथा निबन्धकार थे।

जीवनी

मूलत: हिमाचल प्रदेश के गुलेर गाँव के वासी ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय पंडित शिवराम शास्त्री राजसम्मान पाकर जयपुर (राजस्थान) में बस गए थे। उनकी तीसरी पत्नी लक्ष्मीदेवी ने सन् 1883 में चन्द्रधर को जन्म दिया। घर में बालक को संस्कृत भाषा, वेद, पुराण आदि के अध्ययन, पूजा-पाठ, संध्या-वंदन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का वातावरण मिला और मेधावी चन्द्रधर ने इन सभी संस्कारों और विद्याओं आत्मसात् किया। आगे चलकर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा भी प्राप्त की और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे। कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. ए. (प्रथम श्रेणी में द्वितीय और प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. (प्रथम श्रेणी में प्रथम) करने के बाद चाहते हुए भी वे आगे की पढ़ाई परिस्थितिवश जारी न रख पाए हालाँकि उनके स्वाध्याय और लेखन का क्रम अबाध रूप से चलता रहा। बीस वर्ष की उम्र के पहले ही उन्हें जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार तथा उससे सम्बन्धित शोधकार्य के लिए गठित मण्डल में चुन लिया गया था और कैप्टन गैरेट के साथ मिलकर उन्होंने 'द जयपुर ऑब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' शीर्षक अंग्रेजी ग्रन्थ की रचना की।

अपने अध्ययन काल में ही उन्होंने सन् 1900 में जयपुर में नागरी मंच की स्थापना में योग दिया और सन् 1902 से मासिक पत्र 'समालोचक' के सम्पादन का भार भी सँभाला। प्रसंगवश कुछ वर्ष काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सम्पादक मंडल में भी उन्हें सम्मिलित किया गया। उन्होंने देवी प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला और सूर्य कुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी पुस्तकमाला और सूर्य कुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति भी रहे।

जयपुर के राजपण्डित के कुल में जन्म लेनेवाले गुलेरी जी का राजवंशों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वे पहले खेतड़ी नरेश जयसिंह के और फिर जयपुर राज्य के सामन्त-पुत्रों के अजमेर के मेयो कॉलेज में अध्ययन के दौरान उनके अभिभावक रहे। सन् 1916 में उन्होंने मेयो कॉलेज में ही संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद सँभाला। सन् 1920 में पं. मदन मोहन मालवीय के प्रबल आग्रह के कारण उन्होंने बनारस आकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या विभाग के प्राचार्य और फिर 1922 में प्राचीन इतिहास और धर्म से सम्बद्ध मनीन्द्र चन्द्र नन्दी पीठ के प्रोफेसर का कार्यभार भी ग्रहण किया।

इस बीच परिवार में अनेक दुखद घटनाओं के आघात भी उन्हें झेलने पड़े। सन् 1922 में 12 सितम्बर को पीलिया के बाद तेज ज्वर से मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में उनका देहावसान हो गया।

कार्य

इस थोड़ी-सी आयु में ही गुलेरी जी ने अध्ययन और स्वाध्याय के द्वारा हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत प्राकृत बांग्ला मराठी आदि का ही नहीं जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं का ज्ञान भी हासिल किया था। उनकी रुचि का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत था और धर्म, ज्योतिष इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन भाषाविज्ञान शिक्षाशास्त्र और साहित्य से लेकर संगीत, चित्रकला, लोककला, विज्ञान और राजनीति तथा समसामयिक सामाजिक स्थिति तथा रीति-नीति तक फैला हुआ था। उनकी अभिरुचि और सोच को गढ़ने में स्पष्ट ही इस विस्तृत पटभूमि का प्रमुख हाथ था और इसका परिचय उनके लेखन की विषयवस्तु और उनके दृष्टिकोण में बराबर मिलता रहता है।

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के साथ एक बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि उनके अध्ययन, ज्ञान और रुचि का क्षेत्र हालाँकि बेहद विस्तृत था और उनकी

प्रतिभा का प्रसार भी अनेक कृतियों, कृतिरूपों और विधाओं में हुआ था, किन्तु आम हिन्दी पाठक ही नहीं, विद्वानों का एक बड़ा वर्ग भी उन्हें अमर कहानी 'उसने कहा था' के रचनाकार के रूप में ही पहचानता है। इस कहानी की प्रखर चौंध ने उनके बाकी वैविध्य भरे सशक्त कृति संसार को मानो ग्रस लिया है। उनके प्रबल प्रशंसक और प्रखर आलोचक भी अमूमन इसी कहानी को लेकर उलझते रहे हैं। प्राचीन साहित्य, संस्कृति, हिन्दी भाषा समकालीन समाज, राजनीति आदि विषयों से जुड़ी इनकी विद्वता का जिक्र यदा-कदा होता रहता है, पर 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' जैसे एक दो निबन्धों और पुरानी हिन्दी जैसी लेखमाला के उल्लेख को छोड़कर उस विद्वता की बानगी आम पाठक तक शायद ही पहुँची हो। व्यापक हिन्दी समाज उनकी प्रकाण्ड विद्वता और सर्जनात्मक प्रतिभा से लगभग अनजान है।

अपने 39 वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में गुलेरी जी ने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना तो नहीं कि किन्तु फुटकर रूप में बहुत लिखा, अनगिनत विषयों पर लिखा और अनेक विधाओं की विशेषताओं और रूपों को समेटते-समंजित करते हुए लिखा। उनके लेखन का एक बड़ा हिस्सा जहाँ विशुद्ध अकादमिक अथवा शोधपरक है, उनकी शास्त्रज्ञता तथा पाण्डित्य का परिचायक है, वहीं, उससे भी बड़ा हिस्सा उनके खुले दिमाग, मानवतावादी दृष्टि और समकालीन समाज, धर्म राजनीति आदि से गहन सरोकार का परिचय देता है। लोक से यह सरोकार उनकी 'पुरानी हिन्दी' जैसी अकादमिक और 'महर्षि च्यवन का रामायण' जैसी शोधपरक रचनाओं तक में दिखाई देता है। इन बातों के अतिरिक्त गुलेरी जी के विचारों की आधुनिकता भी हमसे आज उनके पुराविष्कार की माँग करती है।

मात्र 39 वर्ष की जीवन-अवधि को देखते हुए गुलेरी जी के लेखन का परिमाण और उनकी विषय-वस्तु तथा विधाओं का वैविध्य सचमुच विस्मयकर है। उनकी रचनाओं में कहानियाँ कथाएँ, आख्यान, ललित निबन्ध, गम्भीर विषयों पर विवेचनात्मक निबन्ध, शोधपत्र, समीक्षाएँ, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, पत्र विधा में लिखी टिप्पणियाँ, समकालीन साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म, विज्ञान, कला आदि पर लेख तथा वक्तव्य, वैदिक,पौराणिक साहित्य, पुरातत्त्व, भाषा आदि पर प्रबन्ध, लेख तथा टिप्पणियाँ-सभी शामिल हैं।

विषय-वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से गुलेरी जी का लेखन धर्म पुरातत्त्व, इतिहास और भाषाशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों से लेकर काशी की नींद जैसे हलके-फुलके विषयों तक को समान भाव से समेटता है। विषयों का इतना

वैविध्य लेखक के अध्ययन, अभिरुचि और ज्ञान के विस्तार की गवाही देता है, तो हर विषय पर इतनी गहराई से समकालीन परिप्रेक्ष्य में विचार अपने समय और नए विचारों के प्रति उसकी सजगता को रेखांकित करता है। राज ज्योतिषी के परिवार में जन्मे, हिन्दू धर्म के तमाम कर्मकाण्डों में विधिवत् दीक्षित, त्रिपुण्डधारी निष्ठावान ब्राह्मण की छवि से यह रूढ़िभंजक यथार्थ शायद मेल नहीं खाता, मगर उस सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक उत्तेजना के काल में उनका प्रतिगामी रुढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाना स्वाभाविक ही था। यह याद रखना जरूरी है कि वे रूढियों के विरोध के नाम पर केवल आँख मूँदकर तलवार नहीं भाँजते। खण्डन के साथ ही वे उचित और उपयुक्त का मंडन भी करते हैं। किन्तु धर्म, समाज, राजनीति और साहित्य में उन्हें जहाँ कहीं भी पाखण्ड या अनौचित्य नजर आता है, उस पर वे जमकर प्रहार करते हैं। इस क्रम में उनकी वैचारिक पारदर्शिता, गहराई और दूरदर्शिता इसी बात से सिद्ध है कि उनके उठाए हुए अधिकतर मुद्दे और उनकी आलोचना आज भी प्रासंगिक हैं।

उनके लेखन की रोचकता उसकी प्रासंगिकता के अतिरिक्त उसकी प्रस्तुति की अनोखी भंगिमा में भी निहित है। उस युग के कई अन्य निबन्धकारों की तरह गुलेरी जी के लेखन में भी मस्ती तथा विनोद भाव एक अन्तर्धारा लगातार प्रवाहित होती रहती है। धर्मसिद्धान्त, अध्यात्म आदि जैसे कुछ एक गम्भीर विषयों को छोड़कर लगभग हर विषय के लेखन में यह विनोद भाव प्रसंगों के चुनाव में भाषा के मुहावरों में उद्धरणों और उक्तियों में बराबर झंकृत रहता है। जहाँ आलोचना कुछ अधिक भेदक होती है, वहाँ यह विनोद व्यंग्य में बदल जाता है-जैसे शिक्षा, सामाजिक, रूढ़ियों तथा राजनीति सम्बन्धी लेखों में इससे गुलेरी जी की रचनाएँ कभी गुदगुदाकर, कभी झकझोरकर पाठक की रुचि को बाँधे रहती हैं।

भाषा-शैली

गुलेरी जी की शैली मुख्यत: वार्तालाप की शैली है जहाँ वे किस्साबयानी के लहजे में मानो सीधे पाठक से मुखातिब होते हैं। यह साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली को सँवरने का काल था। अत: शब्दावली और प्रयोगों के स्तर पर सामंजस्य और परिमार्जन की कहीं-कहीं कमी भी नजर आती है। कहीं वे 'पृश्णि', 'क्लृप्ति' और 'आग्मीघ्र' जैसे अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं तो कहीं 'बेर', 'बिछोड़ा' और 'पैंड़' जैसे ठेठ लोकभाषा के शब्दों का। अंग्रेजी

अरबी-फारसी आदि के शब्द ही नहीं पूरे-के-पूरे मुहावरे भी उनके लेखन में तत्सम या अनुदित रूप में चले आते हैं। पर भाषा के इस मिले-जुले रूप और बातचीत के लहजे से उनके लेखन में एक अनौपचारिकता और आत्मीयता भी आ गई है। हाँ गुलेरी जी अपने लेखन में उद्धरण और उदाहरण बहुत देते हैं। इन उद्धरणों और उदाहरणों से आमतौर पर उनका कथ्य और अधिक स्पष्ट तथा रोचक हो उठता है पर कई जगह यह पाठक से उदाहरण की पृष्ठभूमि और प्रसंग के ज्ञान की माँग भी करता है आम पाठक से प्राचीन भारतीय वाङ्मय, पश्चिमी साहित्य, इतिहास आदि के इतने ज्ञान की अपेक्षा करना ही गलत है। इसलिए यह अतिरिक्त 'प्रसंगगर्भत्व' उनके लेखन के सहज रसास्वाद में कहीं-कहीं अवश्य ही बाधक होता है।

बहरहाल गुलेरी जी की अभिव्यक्ति में कहीं भी जो भी कमियाँ रही हों, हिन्दी भाषा और शब्दावली के विकास में उनके सकारात्मक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे खड़ी बोली का प्रयोग अनेक विषयों और अनेक प्रसंगों में कर रहे थे-शायद किसी भी अन्य समकालीन विद्वान से कहीं बढ़कर। साहित्य पुराण-प्रसंग इतिहास, विज्ञान, भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों की वाहक उनकी भाषा स्वाभाविक रूप से ही अनेक प्रयुक्तियों और शैलियों के लिए गुंजाइश बना रही थी। वह विभिन्न विषयों को अभिव्यक्त करने में हिन्दी की सक्षमता का जीवन्त प्रमाण है। हर सन्दर्भ में उनकी भाषा आत्मीय तथा सजीव रहती है, भले ही कहीं-कहीं वह अधिक जटिल या अधिक हलकी क्यों न हो जाती हो। गुलेरी जी की भाषा और शैली उनके विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नहीं थी। वह युग-सन्धि पर खड़े एक विवेकी मानस का और उस युग की मानसिकता का भी प्रामाणिक दस्तावेज है। इसी ओर इंगित करते हुए प्रो. नामवर सिंह का भी कहना है, ''गुलेरी जी हिन्दी में सिर्फ एक नया गद्य या नयी शैली नहीं गढ़ रहे थे बल्कि वे वस्तुतः एक नयी चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य नयी चेतना का सर्जनात्मक साधन है।''

आज के युग में गुलेरी जी की प्रासंगिकता

अपने और आधुनिकता' समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों से उनके गम्भीर जुड़ाव और इनसे सम्बद्ध उनके चिन्तन तथा प्रतिक्रियाओं में स्पष्ट होती है। उनका सरोकार अपने समय के केवल भाषिक

और साहित्यिक आन्दोलनों से ही नहीं, उस युग के जीवन के हर पक्ष से था। किसी भी प्रसंग में जो स्थिति उनके मानस को आकर्षित या उत्तेजित करती थी, उस पर टिप्पणी किए बगैर वे रह नहीं पाते थे। ये टिप्पणियाँ उनके सरोकारों, कुशाग्रता और नजरिये के खुलेपन की गवाही देती हैं। अनेक प्रसंगों में गुलेरी जी अपने समय से इतना आगे थे कि उनकी टिप्पणियाँ आज भी हमें अपने चारों ओर देखने और सोचने को मजबूर करती हैं।

'खेलोगे कूदोगे होगे खराब' की मान्यता वाले युग में गुलेरी जी खेल को शिक्षा का सशक्त माध्यम मानते थे। बाल-विवाह के विरोध और स्त्री-शिक्षा के समर्थन के साथ ही आज से सौ साल पहले उन्होंने बालक-बालिकाओं के स्वस्थ चारित्रिक विकास के लिए सहशिक्षा को आवश्यक माना था। ये सब आज हम शहरी जनों को इतिहास के रोचक प्रसंग लग सकते हैं, किन्तु पूरे देश के सन्दर्भ में, यहाँ फैले अशिक्षा और अन्धविश्वास के माहौल में गुलेरी जी की बातें आज भी संगत और विचारणीय हैं। भारतवासियों की कमजोरियाँ का वे लगातार जिक्र करते रहते हैं-विशेषकर सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भों में। हमारे अध:पतन का एक कारण आपसी फूट है-''यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने को दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा है''। जाति-व्यवस्था भी हमारी बहुत बड़ी कमजोरी है। गुलेरी जी सबसे मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्मक्षेत्र में आने का आहवान करते हैं जहाँ सामाजिक जाति भेद नहीं, मानसिक जाति भेद नहीं और जहाँ जाति भेद है तो कार्य व्यवस्था के हित (वर्ण विषयक कतिपय विचार–1920)। छुआछूत को वे सनातन धर्म के विरुद्ध मानते हैं। अर्थहीन कर्मकाण्डों और ज्योतिष से जुड़े अन्धविश्वासों का वे जगह-जगह जोरदार खण्डन करते हैं। केवल शास्त्रमूलक धर्म को वे बाह्यधर्म मानते हैं और धर्म को कर्मकाण्ड से न जोड़कर इतिहास और समाजशास्त्र से जोड़ते हैं। धर्म का अर्थ उनके लिए ''सार्वजनिक प्रीतिभाव है'' ''जो साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष को बुरा मानता है'' (श्री भारतवर्ष महामण्डल रहस्य–1906)। उनके अनुसार उदारता सौहार्द और मानवतावाद ही धर्म के प्राणतत्त्व होते हैं और इस तथ्य की पहचान बेहद जरूरी है-''आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान सबको एक भाव से चलावै और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करे, किन्तु संकीर्ण धर्मशिक्षा...(आदि) हमारी बीच की खाई को और भी चौड़ी बनाएँगे।'' (डिनामिनेशनल कॉलेज–1904)। धर्म को गुलेरी जी बराबर कर्मकाण्ड नहीं बल्कि आचार-विचार, लोक-कल्याण और जन-सेवा से जोड़ते रहे।

कछुआ-धरम

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत्कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाए। यह हिंदुओं के या हिंदुस्तानी सभ्यता के कछुआ धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर, या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करने वाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं सकता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है -

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें... तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें... पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिंधुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि और यजपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियाँ बनाईं, उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घर से आंज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूजवत् हिंदुकुश के एकमात्र दर्रे खैबर में होकर सिंधु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अंभारि, बंभारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शंड, मर्क मारते चले आते थे, वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य वधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ-वहाँ यूप

खड़े हो गए। यहाँ की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने 'नवग्वाः', 'दशग्वाः' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमा प्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ कि एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह! सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिए कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिए सरता नहीं।

अंत को गौ का एक पाद, अर्ध, होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है, पर हिंदी साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना - उन्हीं गंधर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना - पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गंधर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारने वाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाए, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मवर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश - न तत्र दिवसं वसेत्! युगंधरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्याति!!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो सही, बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्रयात्रा बंद! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बंद। वही कछुआ धर्म! ढाल के अंदर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। 'विवृत-जघनां को विहातुं समर्थः' ? कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था? कछुए को ढाल बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोच कि अज्ञात पाप, पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़ें फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गाँवों के कछुओं को यह खबर लगी तो बंबई जाने में भी प्रायश्चित कर दिया गया।

हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा - वह खांड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियाँ गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देसी खांड के बेचने वाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा, या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जाएगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जाएगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मति वाले

शरबत न पीने वालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ-जा रही है, वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्र करने वाला जून के महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए-नए रत्न निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। यह जीवन ही तो सारे दुखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने -

श्मा देहि राम! जननीजठरे निवासम्' 'ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी-गर्भेर्भकत्वं जनाः' और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अंधियारे में क्या खाएँगे, वहाँ जीवन में इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु' बिना खेती के फसलें पक जाएँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है -

विनिर्गतं मानदमात्ममंदिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीवभियामरावती।

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुँची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बंद कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करने वाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पाँव-सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पाँच लाख हिंदू आगे-पीछे समुद्र पर जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोज रोज अव्वल अस्त! अभी पहिला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

मारेसि मोहिं कुठाँउ

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले अभी दे दूँगा, किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुन कर लम्बी साँस भर कर कहा 'मारेसि मोहिं कुठाँउ' मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमें कुठाँव मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आये पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों के कमलनाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने वाला प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इन्द्र को भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से - फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण धातु पाया, जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें ऋषि भी हो गया, जो विश्वामित्र के दादा गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था, जो दुनिया को चकरानेवाला सर्वांगसुन्दर व्याकरण हमारे यहाँ बना गया। पारस के पार्श्वों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या

छत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्य, विस्तास्य के वजन के कृश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गये। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गये। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गये। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवन सिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिरूशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्युयेबल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिंदू कृतन और गुरुमार नहीं थे। सेल्युकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के जमाने में आयी, यवन-राजदूतों ने विष्णु के मंदिरों में गरुड़ध्वज बनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर, त्रतर का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। गांधार से न केवल दुर्योधन की माँ गांधारी आई, बालवाली भेड़ों का नाम भी आया। बल्ख से केसर और हींग का नाम बाल्हीक आया। घोड़ों के नाम पारसीक, कांबोज, वनायुज, बाल्हीक आये। शकों के हमले हुए तो शाकपार्थिव वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (ञ्ने) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आये तो कवियों को नारंगी उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी कीध-सी नारंगी। कलचुरी राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकरू) मुहाविरा चल गया। हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा, पर रोमक सिद्धान्त ज्योतिष के कोष में आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क द्रम्भ (दिरहम) और दीनार (डिनारियस) हमारे भंडार में आ गये। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गये, कश्मीरी कवियों को प्रेम अर्थ में हेवाक दे गए। मुसलमान आये तो सुलताना का सुरत्रण, हमीर का हम्मीर, मुगल का मुँगल, मसजिद का मसीतिरू, कई शब्द आ गये। लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था, अब बिखर रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नयी परिभाषा काम में लाते हैं। पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान-परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आये तो कौन-सी बाबू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी

थी कि सुलतान को सुरत्रण कहो और मुगल को मुगल? तो कभी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुरत्रण कहने लग गये। एकता तब थी कि अब?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो 'देवानां प्रिय' मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्य-श्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिये का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्विक दान भी उन्होंने किया।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरों ने तो गाँव को कुछ न दिया, उन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये। इसी से कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाँउ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इन पुरानी दुकानों का दिवाला निकल गया। लेने की देने पड़ गये।

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिन्दू' कहते हैं। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाये जाते थे वैसे ही विदेशी 'शब्द' शहिन्दू' की शरण लेनी पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकार कर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं क्या करते हो? हिन्दू माने काला चोर, काफिर। अरे भाई कहीं बसने भी दोगे? हमारी मंडलियाँ भले, 'सभा' कहलावें, 'समाज' नहीं कहला सकतीं। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समाज कहें (समाज पशुओं का टोला होता है) ? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किन्तु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलावेगा, उसका नाम रह गया है - सनातन धर्म। हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं। हमारे संस्कारों की विधि संस्कार विधि नहीं रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गयी। उनके समाज-मंदिर होते हैं, हमारे सभा-भवन होते हैं। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया, चाहे जयरामजी कह लो, चाहे जयश्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि यह पहले-पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। प्रत्येक मंगल-कार्य के आरम्भ में हिन्दू श्री गणेशाय नमरू कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है - इस मुहावरे का अर्थ है

कि अभी आरम्भ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पंडित जी गरुड़ पुराण की कथा कहने गये। आरम्भ किया, श्री गणेशाय नमरू। सेठ जी चिल्ला उठे – 'वाह महराज! हमारे यहाँ तो ... और आप कहते हैं कि श्री गणेशाय नमः। माफ करो।' तब से चाल चल गयी है कि गरुड़पुराण की कथा में श्री गणेशाय नमः नहीं कहते हैं श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं। उसी तरह अब सनातनी हिन्दू न बोल सकते हैं न लिख सकते हैं, संध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते। श्रीमद्-भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर सन्तोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाजी और लड़ाई में सब कुछ जायज है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचन्द्र करना पड़ता है, 'चत्वारि श्रृंगा' वाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्ट-वर्षोष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों की मूर्तियाँ बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिन्दू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफिर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हिइंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूष्यत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।' यह उमा-महेश्वर संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिंदवो विंध्यमाविशन्' को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रांता' भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदास रचित विक्रम महाकाव्य में 'हिन्दूपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना की, जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना कालिदास के विक्रम संवत् चलानेवाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला यूनानी नहीं) समय में हिन्दू पद के प्रयोग की कल्पना, कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है।

बाबा दयानन्द ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरंजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय जीवे। हम समझ गये कि यह हमारे बालिका-विवाह की जड़ कटी नहीं, बालिकारभस पर कुठार चला। अब क्या करें? चरक कोई धर्म ग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्म-ग्रन्थ नहीं है,

आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते और व्यवहार में मानते ही हैं – पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पंडित जी लिखते हैं कि हमारे परदादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है, उसमें पाठ है –

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचर्विंशतिम्।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ कंसेंट विल' देता है, बाबाजी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में हैं, न पाठान्तरों में। न हुआ करे – हमारे परदादा की पोथी में तो है। इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाँउ'।

8

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई0 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से द्विवेदीजी ने शांति निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरुदेव

रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया। बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्त्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बाङ्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है।

रचनाएँ

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं

आलोचनात्मक

सूर साहित्य (1936)
हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)

कबीर (1942)
नाथ संप्रदाय (1950)
हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)
आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)
साहित्य का मर्म (1949)
मेघदूत: एक पुरानी कहानी (1957)
लालित्य तत्त्व (1962)
साहित्य सहचर (1965)
कालिदास की लालित्य योजना (1965)
मध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)
हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास (1952)
मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)
सहज साधना (1963)

निबंध संग्रह

अशोक के फूल (1948)
कल्पलता (1951)
विचार और वितर्क (1954)
विचार-प्रवाह (1959)
कुटज (1964)
विश के दन्त

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा (1946)
चारु चंद्रलेख(1963)
पुनर्नवा(1973)
अनामदास का पोथा(1976)

अन्य

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)
संदेश रासक (1960)

सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण (1979)

महापुरुषों का स्मरण (1977)

ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई0 में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई0 में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त वृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन 2011 ई0 में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक - सं.-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली सेय नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से)

दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से)

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व – सं0– डॉ0 व्यास मणि त्रिपाठी (2008, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्टब्लेयर, अंडमान से)

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)– विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी–समग्र पुनरावलोकन – चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सेय हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्र – नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलनय राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

रचनात्मक वैशिष्ट्य

वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं – विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है।

भाषा

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं – (1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा।

प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

शैली

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं–

(1) गवेषणात्मक शैली– द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए - लोक और शास्त्र का समन्वय, ग्राहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय,निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।

(2) वर्णनात्मक शैली– द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

(3) व्यंग्यात्मक शैली– द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(4) व्यास शैली– द्विवेदी जी ने जहां अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहां उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

महत्वपूर्ण कार्य

द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर,

तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गईं। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

मानवतावाद और द्विवेदी जी

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है।

सम्मान

हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या। पूर्व और अपार समुद्र - महोदधि और रत्नाकर - दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदंड' कहा जाय तो गलत क्यों है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह जो शृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे 'शिवालिक' शृंखला कहते हैं। 'शिवालिक' का क्या अर्थ है? 'शिवालक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर हैं, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। संपूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्य महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्य महोदव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि शृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात नाम-गोत्र झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गई है। काली-काली चट्टानों और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करनेवाली रक्ताभ रेती। रस कहाँ है? ये जो ठिंगने-से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी भी भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी

रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे है, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल ग]वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वंद्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुछ नहीं जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा-सा बहुत ही ठिंगना पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा हैं कि कुछ पूछिए नहीं। अजब सी अदा है। मुस्कराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्रायः जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता। पर नाम ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पंडितों का सैकड़ों बार का कचारा-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया, रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले है या पदार्थ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ रहा है। मन व्याकुल हो गया, स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ, इसमें व्याकुल होने की क्या बात है? नाम से क्या रखा है - ह्टस देअर इन ए नेम। नाम की जरूरत ही हो तो सौ दिए जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकांता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकाबतंसा, बहुत-से नाम हैं। या फिर पौरुष-व्यंजक नाम भी दिए जा सकते हैं - अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़-फोड़, पातालभेद। पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति सत्य है, नाम समाज सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग जिसे 'सोशल सैंक्सन' कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि मानव की चित्त गंगा में स्नात।

इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है - देश में और काल में... मनोरथानामगतिनैविद्यते। अचानक याद आया - अरे, यह तो कुटज है। संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किंतु कवियों द्वारा अवमानित, यह

छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कूटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विश्व तो निःसंदेह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होनेवाले इस वृक्ष को 'कूटज' कहने में विशेष आनंद मिलता है। बहरहाल, यह कूटज-कुटज है, मनोहर कुसुम स्तबकों से झबराया, उल्लास लोल चारुस्मित कुटज। जी भर आया।

कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' रामगिरिघ पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कंबख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा - चंपक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविंद नहीं - फकत कुटज के फूल। यह और बात है कि आज आषाढ़ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी 'शापेनास्तंगमितमहिमा' होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-श्रृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके संतप्त चित्त को सहारा दिया था - बड़भागी फूल है यह। धन्य हो कुटज, तुम 'गाढ़े के साथी' हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ? पर काहे वास्ते? लेकिन बुरा भी क्या है?

कुटज के ये सुंदर फूल बहुत बुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया। हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं आता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गई नहीं। अच्छे भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी-कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेकद्रदानी से मुरझा गए होंगे - ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुँझलाए थे, कह दिया-

ये रहीम कब बिरछ कँह, जिनकर छाँह गँभीर,
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़ कुटज करीर।

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। 'छाँह' ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है। वे भी गलत-बयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-बिहारी कुटज का क्या तुक है?

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से संबद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर पर ही है? घर में काम-काज करनेवाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही ही जा सकती हैं। एक जरा गलत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जाती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारदजी की तरह दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं, पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना? शब्द विचारोत्तेजक अवश्य है। कहाँ से आया? मुझे तो इसी में संदेह है कि यह आर्यभाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरंत उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कुटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ तेवी कह गए हैं कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है? एक जमाना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फ्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा-विज्ञानी पंडितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से संबद्ध है। भारत की अनेक जातियाँ वह भाषा बोलती हैं जिनमें संथाल, मुंडा

आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो-एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय-परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर और पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे कोल-परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पंडितों ने बताया हैं कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गए हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुड्मल, कंबु, कंबल, तांबूल आदि शब्द ऐसे ही बताए जाते हैं। पेड़-पौधों, खेती के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे ही हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गए हैं। पंडित लोग उसकी छाल-बीन करके हैरान होते हैं। संस्कृत सर्वग्रासी भाषा है।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आए और गए। दुनिया उनको भूल गई, वे दुनिया को भूल गए। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फ्यिमान शब्दराशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है। बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण नि:श्वास के समान धधकती लू में यह हरा है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है। प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ है, वहीं कहीं भगवान महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनंदिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी - बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है - सूखी, नीरस, कठोर। यहीं आसन मारकर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तबक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल भेदी जड़ों को दबाकर गिरिनंदिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का स्रोत कहाँ है। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य

संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर, उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है –

भित्वा पाषाणपिठरं छित्वा प्राभन्जनीं व्यथाम्पी
त्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः।

दुरंत जीवन शक्ति है। कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिंदगी में, मन ढाल दो जीवन रस के उपकरणों में। ठीक है। लेकिन क्यों? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।' विचित्र नहीं है यह कर्त? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है, सब मतलब के लिए। सुना है, पश्चिम के हॉब्स और हेल्वेशियस जैसे विचारकों ने भी ऐसी ही बात कही है। सुन के हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचंड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा - जीते रहने की प्रचंड इच्छा - ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाए जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गाई जाती है, झूठ हैं। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अंतरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचंड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे 'आत्मन - ' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति का 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सबमें आप - इस प्रकार की एक समष्टि बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता। अपने-आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक 'स्वार्थ' खंड सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय-कृपण-बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है,

उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है। वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है – कोई वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है–श्चाहे सुख हो या दुख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।श

सुखं वा यदि वा दुखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः। (शांतिपर्व, 2526)

हृदयेनापराजितः। कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से, दुख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि।

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं वह भी बुद्धिहीन है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास विधाता की योजना के अनुसार। किसी की उससे सुख मिल जाय, बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका, कोई बात नहीं, परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुख पहुँचाने का अभिमान तो नितांत गलत है।

दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडंबर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, संपूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता

है–'मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ उसे वश में कर सका हूँ'

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोन्तरे।
मनो से निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा।

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता। मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो।

अंधकार से जूझना है

न जाने कब से मनुष्य के अंतरतर से 'दीन रट' निकलती रही–मैं अंधकार से घिर गया हूँ, मुझे प्रकाश की ओर ले चलो – 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' परंतु यह पुकार शायद सुनी नहीं गई – 'होत न श्याम सहाय।' प्रकाश और अंधकार की आँखमिचौनी चलती ही रही, चलती ही रहेगी। यह तो विधि विधान है। कौन टाल सकता है इसे।

लेकिन मनुष्य के अंतर्यामी निष्क्रिय नहीं है। वे थकते नहीं, रुकते नहीं, झुकते नहीं। वे अधीर भी नहीं होते। वैज्ञानिक का विश्वास है कि अनंत रूपों में विकसित होते-होते वे मनुष्य के विवेक रूप में प्रत्यक्ष हुए है। करोड़ों वर्ष लगे हैं इस रूप में प्रकट होने में। उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा। स्पर्शेन्द्रिय से स्वादेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय की ओर और फिर चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रियेन्द्रिय की ओर अपने आपको अभिव्यक्त करते हुए मन और बुद्धि के रूप में आविर्भूत हुए हैं। और भी न जाने किन रूपों में अग्रसर हों। वैज्ञानिक को 'अंतर्यामी' शब्द पसंद नहीं है। कदाचित वह प्राणशक्ति कहना पसंद करे। नाम का क्या झगड़ा है?

जीव का काम पुराकाल में स्पर्श से चल जाता था, बाद में उसने घ्राणशक्ति पाई। वह दूर-दूर की चीजों का अंदाजा लगाने लगा। पहले स्पर्श से भिन्न सब कुछ अंधकार था। अंतर्यामी रुके नहीं। घ्राण का जगत, फिर स्वाद का जगत, फिर रूप का जगत, फिर शब्द शब्द का संसार। एक पर एक नए जगत उद्घाटित होते गए। अंधकार से प्रकाश, और भी, और भी। यहीं तक क्या अंत हैं? कौन बताएगा? कातर पुकार अब भी जारी है – 'तसमो मा ज्योतिर्गमय'। न जाने कितने ज्योतिलोक उद्घाटित होने वाले हैं।

कहते हैं, और ठीक ही कहते होंगे, कि मनुष्य से भिन्न अवर सृष्टि में भी इंद्रियगृहीत बिंब किसी-न-किसी रूप में रहते हैं, पर वहाँ दो बातों की कमी है। इन बिंबों को विविक्त करने की शक्ति और विविक्तीकृत बिंबों को अपनी इच्छा

से – संकल्प पूर्वक – नए सिरे से नए प्रसार–विस्तार या परम्युटेशन कॉम्बिनेशन की प्रक्रिया द्वारा नई अर्थात् प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं से भिन्न सारी चीज बनाने की क्षमता। शब्द के बिंबों के विविक्तीकरण का परिणाम भाषा, काव्य और संगीत हैं, रूप बिंबों के विविक्तीकरण के फल रंग, उच्चावचता,]स्व–दीर्घ वर्तुतुल आदि बिंब और फिर संकल्पशक्ति द्वारा विनियुक्त होने पर चित्र, मूर्ति, वास्तु, वस्त्र, अलंकरण, साज–सज्जा आदि। इसी तरह और भी इंद्रियगृहीत बिंबों का विविक्तीकरण, और संकल्प संयोजन से मानव सृष्ट सहस्रो नई चीजें। यह कोई मामूली बात नहीं है। अभ्यास के कारण इनका महत्व भुला दिया जाता है। पर भुलाना चाहिए नहीं। मनुष्य कुछ भुलक्कड़ हो गया है। लेकिन यह बहुत बड़ा दोष भी नहीं है। न भूले तो जीना ही दूभर हो जाए। मगर ऐसी बातों का भूलना जरूर बुरा है, जो उसे जीने की शक्ति देती हैं, सीधे खड़ा होने की प्रेरणा देती हैं।

किस दिन एक शुभ मुहूर्त में मनुष्य ने मिट्टी के दीये, रुई की बाती, चकमक की चिनगारी और बीजों से निकलनेवाले स्नोत का संयोग देखा। अंधकार को जीता जा सकता है। दिया जलाया जा सकता है। घने अंधकार में डूबी धरती को आंशिक रूप में आलोकित किया जा सकता है। अंधकार से जूझने के संकल्प की जीत हुई। तब से मनुष्य ने इस दिशा में बड़ी प्रगति की है, पर वह आदिम प्रयास क्या भूलने की चीज है? वह मनुष्य की दीर्घकालीन कातर प्रार्थना का उज्ज्वल फल था।

दीवाली याद दिला जाती है उस ज्ञानलोक के अभिनव अंकुर की, जिसने मनुष्य की कातर प्रार्थना को दृढ़ संकल्प का रूप दिया था – अंधकार से जूझना है, विन–बाधाओं की उपेक्षा करके, संकटों का सामना करके।

इधर कुछ दिनों से शिथिल स्वर सुनाई देने लगे हैं। लोग कहते सुने जाते हैं –अंधकार महाबलवान है, उससे जूझने का संकल्प मूढ़ आदर्श मात्र है। सोचता हूँ, यह क्या संकल्प शक्ति का पराभव है? क्या मनुष्यता की अवमानना है? दीवाली आकर कह जाती है, अंधकार से जूझने का संकल्प ही सही यथार्थ है। मृगमरीचिका में मत भटको। अंधकार के सैकड़ों परत हैं। उससे जूझना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जूझने का संकल्प ही महादेवता है। उसी को प्रत्यक्ष करने की क्रिया को लक्ष्मी की पूजा कहते हैं।

अशोक के फूल

अशोक में फिर फूल आ गए है। इन छोटे–छोटे, लाल–लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच समझकर कंदर्प देवता ने

लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुंदर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अंतर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में, और इसलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था, परंतु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था। उस प्रवेश में नववधू के गृह प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुंदरियों के आसिंजनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कंदर्प देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविंद को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है—किंतु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह

मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है? ईसवी सन के आरंभ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्‌भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गंधर्वों ने भारतीय धर्म साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गंधर्व और कंदर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कंदर्प देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, बज्रपाणि यक्षपति थे। कंदर्प कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गंधर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्ण्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आए थे। लेकिन कंदर्प देवता हार माननेवाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नए-नए अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अंतिम अस्त्र था। बौद्ध धर्म को इस नए अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैवमार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवींद्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह। असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए - न जाने कितनी मानव जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिंदू रीति-नीति कहते है, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चंपे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और 'वामन-पुराण' (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खंड-खंड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर

धरती पर गिरा और चंपे का फूल बन गया। हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया। अच्छा ही हुआ। इंद्रनील मणियों का बना हुआ कोटि देश भी टूट गया और सुंदर पाटल पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुंदर बात यह हुई कि चंद्रकांत मणियों का बना हुआ मध्य देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई, स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।

परंतु मैं दूसरी बात सोच रहा है या इस कथा का रहस्य क्या है? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच से फूल भारतीय संसार में गंधर्वों की देन हैं? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गंधर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गंधर्वों के देवता कुबेर, सोम, अप्सराएँ यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रंथों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताए गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती है जिनमें संतानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास संतान कामिनी होकर जाया करती थी। यक्ष और यक्षिणी साधारणत: बिलासी और उर्वरता जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी है। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का संबंध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोध गया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में संतानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्राय: नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुंदरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्म-ग्रंथों से यह भी पता चलता है कि चौत्रशुक्ला अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की संतान-कामना फलवती होती है। 'अशोक-कल्प' में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं - सफेद और लाल। सफेद तो तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी

बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुंझटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सबकुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, वे कुछ ज्यादा गर्वीली थी। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने कभी नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गंधर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शांतिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गंधर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास भूमि है। इनका समाज संभवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसाइटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परंतु वे नाच गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार वाणिज्यवाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। संभवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्र अधिक थी। परवर्ती काल में यह बहुत सुखी जाति जाती थी। यक्ष और गंधर्व एक ही श्रेणी के थे, परंतु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कंदर्प देवता को अपनी गंधर्व सेना के साथ इंद्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जाएँ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थी, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में, तथा यक्ष, गंधर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिंदू समाज इन सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गंधर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कंदर्प देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराजा भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजघरानों में साधारणत: रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुंदरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद देश आहत हुआ नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास। किसलयों और कुसुम स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फ्टिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुंदरियाँ अबीर, कुंकुम, चंदन और पुष्प संभार से पहले कंदर्प देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसंत पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता कौन है? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई हैं? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परंतु है वह उस विशाल सामंत-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त से स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामंत उखड़ गए, समाज ढह गए, और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। संतान कामिनियों को गंधर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा - पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया।

मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा) वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संसार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सबकुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व-खंडन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रांति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुंठनृत्य से ध्वस्थ हो जाएगा, कौन जानता है। मनुष्य की जीवन धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जाएगी। आज अशोक के पुष्प स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी। जिन बातों को मैं अत्यंत मूल्यवान समझ रहा हूँ और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जिएँगी और कितनी बह जाएँगी, कौन जानता है। मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन की मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास जैसे कल्प कवि ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था -अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो - 'किसलयप्रसवौ अपि विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः।' परंतु शाखाओं में लंबित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज अरुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों सामंतों ने जिस आचार-निष्टा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्ध समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई तो क्या यह मध्य युग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी। उसके कुंठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जाएगी। सब बदलेगा। सब विकृत होगा - सब नवीन बनेगा।

भगवान बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामांतर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया। पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्यप्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्म-मार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शाक्त बह गए। उन दिनों 'श्री सुंदरी साधनतत्पराणां योगश्च करस्थ एवं' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवनी शक्ति का दुर्दम अभियान था। कौन बताएगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परंपरा ढोए आ रहा है। कैसा झबरा सा गुल्म है।

मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरंभ हो जाता - मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता - विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता, तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है - जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है,

तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास में उदास भी नहीं करती। कहाँ। अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे। अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।

आपने मेरी रचना पढ़ी?

हमारे साहित्यिकों की भारी विशेषता यह है कि जिसे देखो वहीं गम्भीर बना है, गम्भीर तत्त्ववाद पर बहस कर रहा है और जो कुछ भी वह लिखता है, उसके विषय में निश्चित धारणा बनाये बैठा है कि वह एक क्रान्तिकारी लेख है। जब आये दिन ऐसे ख्यात-अख्यात साहित्यिक मिल जाते हैं, जो छूटते ही पूछ बैठते हैं, 'आपने मेरी अमुक रचना तो पढ़ी होगी?' तो उनकी नीरस प्रवृत्ति या विनोद-प्रियता का अभाव बुरी तरह प्रकट हो जाता है। एक फिलासफर ने कहा है कि विनोद का प्रभाव कुछ रासायनिक-सा होता है। आप दुर्दान्त डाकू के दिल में विनोद-प्रियता भर दीजिए, वह लोकतंत्र का लीडर हो जायगा, आप समाज सुधार के उत्साही कार्यकर्ता के हृदय में किसी प्रकार विनोद का इंजेक्शन दे दीजिए, वह अखबार-नवीस हो जायेगा और यद्यपि कठिन है, फिर भी किसी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाड़ी में थोड़ा विनोद भर दीजिए, वह किसी फिल्म कम्पनी का अभिनेता हो जायेगा।

एक आधुनिक चीनी फिलासफर को दिन-रात यह चिन्ता परेशान करती रहती है कि आखिर लोकतंत्र के नेताओं और डिक्टेटरों में अन्तर क्या है। यदि आप सचमुच गम्भीरतापूर्वक छान-बीन करें तो रूजवेल्ट और स्तालिन में कोई मौलिक अन्तर नहीं मिलेगा। या दूर की बात छोड़िए। गांधी और जिन्ना में कोई अन्तर नहीं है - जहां तक शक्ति-प्रयोग का प्रश्न है। गांधी की बात भी कांग्रेस के लिए कानून है और जिन्ना की बात भी मुस्लिम लीग के लिए वेद-वाक्य है। फिर भी एक डेमोक्रेट है और दूसरा डिक्टेटर। क्यों? चीनी फिलासफर ने चार वर्ष की निरन्तर साधना के बाद आविष्कार किया कि डेमोक्रेट हंसना और मुस्कराना जानता है, पर डिक्टेटर हंसने की बात सोचते भी नहीं। उनको आप जहां भी देखें और जब भी देखें, उनकी भृकुटियां तनी हुई हैं, मुट्ठियां बंधी हुई हैं, ललाट कुंचित हैं, अधरोष्ठ दांतों की उपान्तरेख के समानान्तर जमा हुआ है - मानो ये अभी दुनिया को भस्म कर देना चाहते हैं। अगर इन शक्तिशाली डिक्टेटरों में हंसने का थोड़ा-सा माद्दा होता तो दुनिया आज कुछ और हो गयी होती।

जब-जब मैं कलकत्ते के चिड़ियाघर में गया हूं, तब-तब मुझे ऐसा लगा है कि संसार के जीवों में सबसे अधिक गम्भीर और चिन्तामग्न चेहरा उस चिड़ियाघर में रखे हुए एक वनमानुष का है। उसको देखते ही जान पड़ता है कि संसार की समस्त वेदना को वह हस्तामलक की भांति देख रहा है और अपनी सुदूरपातिनी दृष्टि से इन आने-जानेवाले दर्शकों के करुण भविष्य को वह प्रत्यक्ष देख रहा है। मैंने बाद में पढ़ा है कि अफ्रीका के हब्शियों में यह विश्वास है कि वनमानुष मनुष्य की बोली बोल भी सकते हैं और संसार के रहस्य को भली-भांति समझ भी सकते हैं, परन्तु इस डर से बोलते नहीं कि कहीं लोग पकड़कर उन्हें गुलाम न बना लें। यह बात जब तक मुझे नहीं मालूम थी, तब तक मैं समझता था कि यह कलकत्तेवाला वनमानुष ही बहुत गम्भीर और तत्त्वचिन्तक लगता है। अब मैंने अपनी राय में संशोधन कर लिया है। वस्तुतः संसार के सभी वनमानुष गम्भीर तत्त्वदर्शी दिखाई देते हैं।

मैं कभी-कभी सोचता हूं कि आदिम युग का मनुष्य – जबकि वह वानरी योनि से मानवी योनि में नया-नया आया था – कुछ इस कलकतिये वनमानुष की ही भांति गम्भीर रहा होगा। मगर यह भी कैसे कहूं? जेब्रा और गैंडा भी मुझे कम गम्भीर नहीं लगते तथा गधे और ऊंट भी इस सूची से अलग नहीं किये जा सकते। फिर भी इनकी तुलना वनमानुष से नहीं की जा सकती। अन्ततः गधे और वनमानुष की गम्भीरता में मौलिक भेद है। गधा उदास होता है और इसलिए नकारात्मक है, पर वनमानुष सोचता हुआ-सा रहता है और इसीलिए उसकी गम्भीरता में कुछ तत्त्व है, कुछ सार है। गधे की गम्भीरता प्रोलितारियत की उदासी है और वनमानुष की गम्भीरता वर्गवादी मनीषी की। दोनों को एक श्रेणी में नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आदि-मानव कुछ गम्भीर, कुछ तत्त्वचिन्तक और कुछ उदास जरूर था और उसकी उदासी वर्गवादी विचारक की उदासी की जाति की ही रही हो, ऐसा भी हो सकता है। सच पूछिए तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हंसना-हंसाना तब शुरू हुआ होगा जब उसने कुछ पूंजी इकट्ठी कर ली होगी और संचय के साधन जुटा लिये होंगे। मेरा निश्चित मत है कि हंसना-हंसाना पूंजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिन्दी साहित्यिक जो हंसना नापसन्द करते हैं, उसका कारण शायद यह है कि वे पूंजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति को मन ही मन घृणा करने लगे हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है – चूंकि संसार के सभी लोग हंस नहीं सकते, इसलिए

हंसी एक गुनाह है और चूंकि संसार के सभी लोग थोड़ा-बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नहीं, केवल रोनी सूरत बनाये रहते हैं। जिसे थोड़ा-सा भी गणित सिखाया गया हो, वह बहुत आसानी से इस आचरण की युक्तियुक्तता समझ सकता है। मैं समझा रहा हूं।

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि दुनिया में सुख की अपेक्षा दु:ख अधिक है, अर्थात् रोदन हास्य से अधिक है। अब सारी दुनिया के रोदन को बराबर-बराबर बांट दीजिए और हंसी को भी बराबर-बराबर बांट दीजिए। स्पष्ट है कि सबको रोदन हास्य से ज्यादा मिलेगा। अब रोदन में से हास्य घटा दीजिए। कुछ रोदन ही बचा रहेगा। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ मिलेगा, उससे फूट-फूटकर तो नहीं रोया जा सकता, पर चेहरा जरूर रुआंसा बना रहेगा। यह युक्ति मुझे तो ठीक जंचती है।

लेकिन युक्ति का ठीक जंचना साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में सब समय प्रमाणस्वरूप ग्रहण नहीं किया जाता। रहस्यवादी आलोचक यह नहीं मानते कि युक्ति और तर्क में ही सब कुछ है। मैंने आलोचक शब्द के विशेषण के लिए रहस्यवादी शब्द किसी को चौंका देने की मंशा से व्यवहार नहीं किया है। बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी में वस्तुत: रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहां तक हिन्दी बोलनेवालों का संबंध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं, पर वे सब साधना की दुनिया के जीव हैं, साहित्य की दुनिया में रहस्यवादी जीव यदि कोई है तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं और जब कभी मैं रहस्यवादी शब्द की बात सोचता हूं तो काशी के भदैनी मुहल्ले की सड़क पर साधना करने वाला रहमतअली फकीर मेरे सामने जरूर आ जाता है। यह फकीर मन, वचन और कर्म तीनों से विशुद्ध रहस्यवादी था। 'अनिकेत' वह जरूर था, पर उसके बड़े-से-बड़े निन्दक को भी यह कहने में जरूर संकोच होगा कि वह 'स्थिरमति' भी था।

सो, मैंने एक दिन देखा कि यह रहमतअली शून्य की ओर आंखें उठाये हुए किसी अदृश्य वस्तु पर निरन्तर प्रहार कर रहा है। लात, मुक्के, घूंसे - एक, दो, तीन। लगातार। दर्शक तो वहां बहुत थे, कुछ सहमे हुए, कुछ भक्तियुक्त, कुछ 'यों ही-से' और कुछ गम्भीर। एकाध मुस्करा भी रहे थे। इन्हें देखकर ही मुझे रहस्यवादी आलोचकों की याद आयी। सारा काण्ड कुछ ऐसा अजीब था कि विनोद

की एक हल्की रेखा के सिवा तत्त्वज्ञान तक पहुंचा देने का और साधन ही नहीं था। तब से जब देखता हूं कि कोई शून्य की ओर आंखें उठाये है और किसी अदृश्य वस्तु पर निरस्त प्रहार कर रहा है, तब मुझे रहस्यवाद की याद आये बिना नहीं रहती। सो, यह रहस्यवादी दल युक्ति नहीं माना करता। 'युक्ति' शब्द में ही (युज्धति) किसी वस्तु से योग का संबंध है। और यह मान लिया गया है कि योग दृश्य-वस्तु से ही स्थापित किया जा सकता है। अदृश्य के साथ योग कैसा?

आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूं कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हंसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित! यह क्या कम साधना है? आये दिन साहित्यिकों के विषय में विचार होता ही रहता है और इन विचारों पर विचार लिखनेवाले बुद्धिमान लोग गम्भीर भाव से सिर हिलाकर कहते हैं - आखिर साहित्यिक कहें किसे? बहसें होती हैं, अखबार रंगे जाते हैं, मेरे जैसे आलसी आदमी भी चिन्तित हो जाते हैं और अन्त में सोचता हूं कि 'साहित्यिक' तो साहित्य के संबंधी को ही कहते हैं न? सो, संबंध तो कई तरह के हैं। बादरायण एक है। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, तो इस संबंध को पुराने पण्डित 'बादरायण' संबंध कहेंगे। साहित्य से संबंध रखनेवाले जीव पांच प्रकार के हैं - लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़नेवाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करनेवाला पढ़ता नहीं - यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाय। इसीलिए कोई जब एक लेखक से पूछता है कि आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी, तब जी में आता है कि कह दूं, 'डॉक्टर के पास जाओ। तुम्हारे दिमाग में कुछ दोष है।' पर डॉक्टर क्या करेगा? विनोद का इंजेक्शन किसी फैक्टरी ने अभी तक तैयार नहीं किया। इसलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूं। मेरे एक हौमियोपैथी मित्र का दृढ़ मत है कि विनोद की कमी दूर करने के लिए कोई इंजेक्शन तैयार किया जा सकता है। वे इस बात का प्रयत्न भी कर रहे हैं कि किसी हंसोड़ की छाया किसी तरह अलकोहल में घुलाकर उस पर से विनोद की दवा तैयार करें और चिकित्सा की और साहित्य की दुनिया में एक ही साथ क्रान्ति कर दें। पर वह अभी प्रयोगावस्था में ही हैं। तब तक मुझे भी सब सहना पड़ेगा और सहे भी जा रहा हूं।

9

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनर्व्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा (थ) उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अतः परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं।

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं–

आलोचनात्मक ग्रंथ–सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ–उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है जिसमें शुक्लजी की लेखन शैली गत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्व है, क्रोधी की मानसिकता–जैसै समबन्धित पेहलुओ का विश्लेशण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनुदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनूदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं –

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध– 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ–साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्र में है। श्हिंदी साहित्य का इतिहासश् उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंध– भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध- मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्रायः दो रूप मिलते हैं -

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णतः विद्यमान है। अतः इस प्रकार को भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यावहारिक

भाषा का सरल और व्यवहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यवहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क अटकल-पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है। तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप हैं -

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यवहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे - बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों

के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम श्बिंबग्रहणश् या श्चित्रनुभवश् कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थितिश् का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते

हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का श्हिंदी साहित्य का इतिहासश् हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सारर्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवादष् निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

भय

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। क्रोध दुख के कारण के स्वरूपबोध के बिना नहीं होता। यदि दुख का कारण चेतन होगा और यह समझा जायगा कि उसने जान-बूझकर दुख पहुँचाया है, तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहींय इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुख या हानि पहुँचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गँवार से कहे कि 'कल तुम्हारे हाथ-पाँव टूट जायँगे' तो उसे क्रोध न आएगा, भय होगा। पर उसी से यदि कोई दूसरा आकर कहे कि 'कल अमुक-अमुक तुम्हारे हाथ-पैर

तोड़ देंगेश' तो वह तुरंत त्योरी बदलकर कहेगा कि 'कौन हैं हाथ-पैर तोड़नेवाले? देख लूँगा।'

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है - असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असंभव हो या असंभव समझ पड़े। साध्य विषय वह है, जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रक्ख्खा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनंद से बातचीत करते चले जा रहे थे। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागने, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय के साध्य या असाध्य होने की धारणा परिस्थिति की विशेषता के अनुसार तो होती ही है पर बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति पर भी अवलंबित रहती है। क्लेश के कारण का ज्ञान होने पर उसकी अनिवार्यता का निश्चय अपनी विवशता या अक्षमता की अनुभूति के कारण होता है। यदि यह अनुभूति कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अनभ्यास या साहस के अभाव के कारण होती है, तो मनुष्य स्तंभित हो जाता है और उसके हाथ-पाँव नहीं हिल सकते। पर कड़े दिल का या साहसी आदमी पहले तो जल्दी डरता नहीं और डरता भी है तो सँभल कर अपने बचाव के उद्योग में लग जाता है।

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता यी भीरुता कहलाता है और भारी दोष माना जात, है, विशेषत: पुरुषों में। स्त्रियों की भीरुता तो उनकी लज्जा के समान ही रसिकों के मनोरंजन की वस्तु रही है। पुरुषों की भीरुता की पूरी निंदा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत पुराने जमाने से पुरुषों ने न डरने का ठेका ले रक्ख्खा है। भीरुता के संयोजक अवयवों में क्लेश सहने की आवश्यकता और अपनी शक्ति का अविश्वास प्रधान है। शत्रु का सामना करने से भागने का अभिप्राय यही होता है कि भागनेवाला शारीरिक पीड़ा नहीं सह सकता तभी अपनी शक्ति के द्वारा उस पीड़ा से अपनी रक्षा का विश्वास नहीं रखता। यह तो बहुत पुरानी चाल की भीरुता हुई। जीवन के और अनेक व्यापारों में भी भीरुता दिखाई देती है। अर्थहानि के भय से बहुत से व्यापारी कभी-कभी किसी विशेष व्यवसाय में हाथ नहीं डालते, परास्त होने के भय से बहुत से पंडित कभी-कभी शास्त्रर्थ से मुँह चुराते हैं। इस प्रकार की भीरुता की तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। भीरु व्यापारी में अर्थहानि सहने की अक्षमता और अपने व्यवसाय कौशल पर अविश्वास तथा

भीरु पंडित में मान-हानि सहने की अक्षमता और अपने विद्या-बुद्धि-बल पर अविश्वास निहित है।

एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म-भीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरनेवालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होनेवाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा, उसकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।

दुख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना-मात्र के अनुमान से जो आवेग-शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं। उसमें वैसी आकुलता नहीं होती। उसका संचार कुछ धीमा पर अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से होकर जाता हुआ यात्री चाहे रास्ते भर इस आशंका में रहे कि कहीं चीता न मिल जाय, पर वह बराबर चला चल सकता है। यदि उसे असली भय हो जायगा तो वह या तो लौट जायगा अथवा एक पैर आगे न रखेगा। दुखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए जो सुखात्मक भावों में आशा की। अपने द्वारा कोई भयंकर काम किए जाने की कल्पना या भावनामात्र से भी क्षणिक स्तंभ के रूप में एक प्रकार के भय का अनुभव होता है। जैसे, कोई किसी से कहे कि 'इस छत पर से कुद जावश' तो कूदना और न कूदना उसके हाथ में होतेहुए भी यह कहेगा कि 'डर मालूम होता है।' पर यह डर भी पूर्ण भय नहीं है।

क्रोध का अभाव दुख के कारण पर डाला जाता है, इससे उसक द्वारा दुख का निवारण यदि होता है तो सब दिन के लिए या बहुत दिनों के लिए। भय के द्वारा बहुत-सी अवस्थाओं में यह बात नहीं सकती। ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीचे जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते है और ऐसे उन्नत समाज में जहाँ एक-एक व्यक्ति को पहुँच और परिचय का विकास बहुत अधिक होता है, प्राय: भय का फल भय के संचार-काल तक ही रहता है। जहाँ भय भूला कि आफत आई। यदि कोई क्रूर मनुष्य किसी बात पर आपसे बुरा मान गया और आपको मारने दौड़ा तो उस समय भय की प्रेरणा से आप भागकर अपने को बचा लेगे। पर संभव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर था उसी समय दूर न हो, बल्कि कुछ दिन के लिए वैर के रूप में टिक जाय, तो उसके लिए आपके सामने फिर आना कोई बड़ी बात न होती। प्राणियों की असभ्य दशा में ही भय से अधिक काम

निकलता है जब कि समाज का ऐसा गहरा संगठन नहीं होता है कि बहुत से लोगों को एक दूसरे का पता और उसके विषय में जानकारी रहती हो।

जंगली मनुष्यों के परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है। बहुत-सी ऐसी जंगली जातियाँ अब भी है जिनमें कोई एक व्यक्ति्घ बीस-पचीस से अधिक आदमियों को नहीं जानता। अत: उसे दस-बारह कोस पर ही रहनेवाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े तो वह भागकर उसे अपनी रक्षा उसी समय के लिए ही नहीं बल्कि सब दिनों से लिए कर सकता है। पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज में भय के द्वारा स्थायी रक्षा की उतनी संभावना नहीं होती। इसी से जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है। जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की स्तुति करते हैं। उनके देवी-देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं। किसी आपत्ति या दुख से बचे रहने के लिए ही अधिकार वे उनकी पूजा करते हैं। अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए हैं। वे जितना सम्मान एक थानेदार का करते हैं, उतना किसी विद्वान का नहीं।

चलने-फिरने वाले बच्चों में, जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुख परिहार का ज्ञान या बल नहीं होता, भय अधिक होता है। बहुत से बच्चो तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं। पशुओं में भी भय अधिक पाया जाता है। अपरिचित के भय में जीवन का कोई गूढ़ रहस्य छिपा जान पड़ता है। प्रत्येक प्राणी भीतरी आँख कुछ खुलते ही अपने सामने मानों एक दुख-कारण-पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है। जिसे क्रमश: कुछ अपने ज्ञानबल से और कुछ बाहुबल से थोड़ा-बहुत सुखमय बनाता चलता है। क्लेश ओर बाधा का ही सामान्य व्यतिक्रम समझता है, विरल विशेष मानता है। इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस उसे बहुत दिनों तक नहीं होता। परिचय के उत्तरोत्तर अभ्यास के बल से अपने माता-पिता या नित्य दिखाई पड़ने वाले कुछ थोड़े से और लोगों के ही संबंध में वह यह धारणा रखता है कि मुझे सुख पहुँचाते हैं और कष्ट न पहुँचाएँगे। जिन्हें वह नहीं जानता, जो पहले पहल उसके सामने आते हैं, उनके पास वह बेधड़क नहीं चला जाता। बिल्कुल अज्ञात वस्तुओं के प्रति भी वह ऐसा ही करता है।

भय की इस वासना का परिहार क्रमश: होता चलता है। ज्यों-ज्यों वह नाना रूपों से अभ्यस्त होता है त्यों-त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार

अपने ज्ञानबल, हृदयबल और शरीर बल की वृद्धि के साथ वह दुख की छाया मानों हटाता चलता है। समस्त मनुष्य-जाति की सभ्यता के विकास का ही यही क्रम रहा है। भूतों का भय तो अब कुछ छूट गया है, पशुओं की बाधा भी मनुष्य के लिए प्रायः नहीं रह गई है, पर मनुष्य के लिए मनुष्य का भय बना हुआ है। इस भय के छूटने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते। अब मनुष्यों के दुख के कारण मनुष्य ही है। सभ्यता से अंतर केवल इतना ही पड़ा है कि दुख-दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं। उनका क्षोभकारक रूप बहुत से आवरणों के भीतर ढक गया है। अब इस बात की आशंका तो नहीं रहती है कि कोई जबरदस्ती आकर हमारे घर, खेत, बाग-बगीचे, रुपये-पैसे छीन न ले, पर इस बात का खटका रहता है कि कोई नकली दस्तावेजों झूठे गवाहों और कानूनी बहसों के बल से हमें इन वस्तुओं से वंचित न कर दे। दोनों बातों का परिणाम एक ही है।

एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक ओर सामाजिक व्यवघ्स्था - एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक - इस दोरंगी झलक की दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो, या तो लंबी-चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए समझा जा सकता है।

ऊपर जिस व्यक्तिगत विषमता की बात कही गई हैं, उससे समष्टि रूप में मनुष्यजाति का वैसा अमंगल नहीं है। कुछ लोग अलग-अलग यदि क्रूर लोभ के व्यापार में रत रहे, तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुखी या ग्रस्त होगे। यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बाँधकर किया जायेगा, तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा। संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है। प्राचीन काल में जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी, उसने आगे चलकर योरप में बड़ा भयंकर रूप धारण किया। अर्थ-शास्त्र के प्रभाव के अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण-काल तक ही - जो बहुत दीर्घ

नहीं हुआ करता था – रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चुसता चला जा रहा है – न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों का करागार हो रहे हैं।

जब तक योरप की जातियों ने आपस में लड़कर रक्त नहीं बहाया तब तक उनका ध्यान अपनी उस अंधनीति से अनर्थ की और नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह-जगह स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ विश्वप्रेम उमड़ता दिखाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत कुछ-कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही तो अभी देखने में आया है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में आई। पर फैशन के रूप में गृहीत इस 'विश्वप्रेम' और 'अध्यात्म' की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसे हवा का एक झोंका समझना चाहिए। सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था, पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए है। सबल और सबल देशों के बीच अर्थ संघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है, एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद की शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्रधर्म के उच्च ओर पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, उसी प्रकार मुक्तातंक होने का भी। पर कार्य-क्षेत्र के चक्रव्यूह में पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न-साध्य होता है उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के संपादन के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं – पहली तो यह कि दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न होय दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न करे सकें। इनमें से एक का संबंध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरूषार्थ से। इस संसार में किसी को न डराने से ही डरने की संभावना दूर नहीं हो सकती। साधु से साधु प्रकृतिवाले को क्रूर लोभियों और दुर्जनों से क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने या भय-संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नहीं सकते।

10

कुबेर नाथ राय

कुबेरनाथ राय हिन्दी ललित निबन्ध परम्परा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर, सांस्कृतिक निबन्धकार और भारतीय आर्ष-चिन्तन के गन्धमादन थे। उनकी गिनती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र जैसे ख्यातिलब्ध निबन्धकारों के साथ की जाती है।

जीवन-परिचय

जन्म, शिक्षा और आजीविका

कुबेरनाथ राय का जन्म 26 मार्च 1933 को उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के मतसाँ ग्राम में हुआ। उनके पिताजी का नाम स्व. बैकुण्ठ नारायण राय एवं माताजी का नाम स्व. लक्ष्मी राय था। उन्होंने, क्विंस कालेज, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी और कलकत्ता विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। उनकी पत्नी का नाम महारानी देवी था। अपने सेवाकाल के आरम्भ में उन्होंने विक्रम विद्यालय कोलकाता में अध्यापन किया उसके बाद वे नलबारी, असम में अंग्रेजी के प्राध्यापक और सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर, उत्तर प्रदेश में प्राचार्य रहे।

निधन

श्री राय का निधन 5 जून 1996 को हुआ को उनके पैत्रिक गांव मतसा में हुआ।

रचनाएँ

निबन्ध

1. प्रिया नीलकंठी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1969.,
2. रस आखेटक, भारतीय ज्ञानपीठ, 1971 .
3. गंधमादन, भारतीय ज्ञानपीठ, 1972.
4. निषाद बांसुरी, 1973.
5. विषद योग, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस (दिल्ली), 1974.
6. पर्ण-मुकुट, लोक भारती (इलाहबाद), 1978.
7. महाकवि की तर्जनी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस (दिली), 1979
8. पत्र मणिपुतुल के नाम, गाँधी शांति प्रतिष्ठान (दिल्ली), (1980) (पुनः प्रकाशन 2004. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी)
9. मनपवन की नौका, प्रभात प्रकाशन (दिल्ली), 1983.
10. किरात नदी में चन्द्रमधु, विश्वविद्यालय प्रकाशन (वाराणसी), 1983.
11. दृष्टि-अभिसार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस (दिल्ली), 1984
12. त्रेता का वृहत्साम, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस (दिल्ली), 1986.
13. कामधेनु, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस (दिल्ली), 1990.
14. मराल,भारतीय ज्ञानपीठ1993.
15. आगम की नाव,
16. वाणी का क्षीरसागर,
17. रामायण महातीर्थम, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली2002
18. उत्तर कुरु, 1993.
19. चिन्मय भारत, हिंदुस्तानी अकादमी,इलाहबाद,1996
20. अन्धकार में अग्निशिखा, प्रभात प्रकाशन, 2000

काव्य

कंथामणि (काव्य संग्रह), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,1998

अन्य

1. पुनर्जागरण का अंतिम शलाका पुरुष–स्वामी सहजानंद सरस्वती
2. प्रमुख पुरस्कार एवं उपलब्धि

3. 'कामधेनु' पर मूर्तिदेवी पुरस्कार, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा, 1992
4. प्रथम कृति 'प्रिया नीलकंठी' पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्मान 1971
5. 'पत्र मणिपुतुल के नाम' के लिए अभयानन्द पुरस्कार (1982)
6. 'किरात नदी में चन्द्रमधु' पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार 1987
7. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान 1995
8. कुबेरनाथ राय पर केंद्रित शोध-कार्य
9. राजीवरंजन, ' भारतीयता की संकल्पना और कुबेरनाथ राय' (2009) महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
10. ललित निबन्ध परम्परा और कुबेरनाथ राय, अजय राय, पूर्वांचल विश्वविद्यालय
11. संकर चांडक॒कुबेरनाथ राय के निबंध का स्वरुप और शिल्प विधानश. डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी. ट.ठै. पूर्वांचल यूनिवर्सिटी, जौनपुर, उत्तर प्रदेश ., 2001.
12. अमन मोहिन्द्र य कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों का सांस्कृतिक विश्लेषण, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटिआला.2003

निषाद बाँसुरी

सप्तमी का चाँद कब का डूब चुका है। आधी रात हेल गयी है। सारा वातावरण ऐसा निरंग-निर्जन पड़ गया है गोया यह शुक्ला सप्तमी न होकर शुद्ध नष्ट-चंद्र निशा हो। अभी-अभी हमारी नाव 'झिझिरी' अर्थात् नौका-विहार खेलकर लौटी है। नाव को तट से बाँधकर चंदर भाई फिर 'गलई' अर्थात इसके अग्रभाग पर आ विराजते हैं और प्रस्ताव करते हैं - 'यार, अब सोने कौन जाए? पहर-डेढ़ पहर जो रात बची है, बातें करते-करते काट देंगे।श' इधर चार-पाँच वर्षों से जब मैं घर आता हूँ तो एक पूरी संध्या और उससे जुड़ी हुई रात्रि अपने बाल-सखा चंदर माझी को समर्पित करता हूँ। अपनी प्यारी नदी के सान्निध्य में, जिसकी सेवा वे जन्म से ही बड़े मनोयोगपूर्वक कर रहे हैं, मैं इनका आतिथ्य ग्रहण कर कृतकृत्य होता हूँ और ये मुझे नौका नयन के दो-चार गीत सुनाते हैं, और सबसे बढ़कर चंद्रविगलित ज्योत्स्ना में नदी के एकांत वक्ष पर झिझिरी खेलने का अवसर देते हैं, तब मेरा आदिम निषाद-मन मुझे कुछ क्षणों के लिए पुनः इस जन्म में भी मिल जाता है। मेरा विश्वास है, और मैं इसे 'विश्वासं अप्रमेयम्' अर्थात् प्रमाण-अप्रमाण के द्वंद्व से परे का विश्वास मानकर बैठा हूँ, कि

किसी जन्म में मैं गंगातीरी निषाद अवश्य था अन्यथा इस नदी के प्रति इतनी मोह-माया, इसमें इतना माँ जैसा भरोसा और बल क्यों अनुभव करता! नदी के प्रति आसक्ति ही शायद यह कारण है कि यह अँगुठियाकेशी, गठीला बदन, निरक्षर निषाद युवक मेरा इतना घनिष्ठ हो उठा है।

यों भी चंदर हैं बादशाही तबीयत वाले। बात के धनी, मन से उदार और विपत्ति में घोर साहसी। हाथ में अंकारी रहने पर जल या थल के किसी श्वापद का सामना करने को तैयार। गत वर्ष, ब्याहने गये एक को, पर लौटे दो के साथ और दोनों बहुओं का क्या ही कवित्वपूर्ण नाम रखा है 'रूपसी' और 'पियासी', जो गंगा की धारा में पायी जाने वाली दो तरह की मछलियों के नाम हैं। कहते हैं कि बेटे का नाम रखेंगे रोहित। ऐसे 'मन को बड़ो महीप' के साथ मेरी दोस्ती न होना ही अस्वाभाविक होता। मुझे लगता है मीन-मिथुन-जैसी दो बहुओं के बीच वे एक पद्मफूल हैं।

आज मैं घंटों नौका विहार करके भी, चंदर भाई के साथ थकावट नहीं महसूस कर रहा हूँ। इस सुनसान निरंग-निर्जन में वे अपने पुरुष कंठ से सीधी नदी को जगाने के लिए एक पुराने गान की आवृत्ति करते हैं। इस निचाट स्तब्धता में यह गान किसी अपदेवता के कंठस्वर जैसा सुनाई पड़ता है और मैं एकाध बार चंदर को अँधेरे में भी देखने की चेष्टा करता हूँ कि चंदर ही हैं न! क्योंकि इस क्षण में और इस जगह पर क्या ठिकाना कब क्या हो जाए। पास में ही मुर्दाघाट है। आखिर रात तो इन्हीं रात्रिचरों के हिस्से में है। हमारे हिस्से में तो दिन है, जिसमें ये सब चुपचाप अदृश्य या निश्चल रहते हैं। पर जैसे-जैसे रात भीगती जाती है, श्वापद-आरण्यक, पेड़-पल्लव, घाट-बाट, भूत-प्रेत सभी धीरे-धीरे जग जाते हैं और उस समय वे या तो काना-फूसी करते हैं अथवा निःशब्द एवं क्रूर आहार-विहार। यदि ऐसे में कोई हँसे, कोई गान गाये, कोई इनके एकांत में खलल डाले तो फिर ये भी उसे दंडित कर सकते हैं। मैं डोंगी के चौड़े तखते पर लेटा हूँ और चंदर 'गलई' पर बैठे-बैठे गान भरपूर खुले कंठ से गा रहे हैं। सुनते हुए मुझे लगता है कि हम दोनों बंधु किसी भी भूत-प्रेत से कम नहीं।

'गंगा मैया,
कोई जे सोवेला रन बन,
कोई जे बेइलिया बने हो!
कोई जे सोवेला बलुआ क रेतवा
त' तोहरे सरन धइले हो!

गंगा मैया,
राजा जे सोवेला रन बन,
रानी बेइलिया बने हो!
मलहा त' सोवेला बालू क रेतवा,
त' तोहरे सरन धइले हो!'

निषाद प्रार्थना कर रहा है–'ओ माता, ओ गंगा मैया, सोयी हो या जागी हो? जरा उठो देखो, मेरी बोझी हुई नाव, मेरी 'बरधी' इस बालू के रेत में अटक गयी है। माँ, मैं तुम्हारी शरण में नित्य रहने वाला निषाद हूँ। तुम्हारा ही आश्रय गहकर चलता हूँ। ओ माँ, राजा तो रणभूमि में शिविर में सोता है, रानी महँ–महँ सुवासित बेला–वन में सोती है, पर मैं दीन निषाद तुम्हारे तट की बालूमयी रेती पर सोता हूँ और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ। आज मेरी नौका 'चोर बालू' में फँसी है और बालू नाग की तरह कुंडली मारकर नाव को भीतर खींचता जा रहा है। माँ, अब मैं गया! जगी हो या सोयी हो जल्दी उठो। मैं, मेरी नाव, नाव पर लदा सार्थ, सब तुम्हारी शरण में।श' नदी रात–भर श्वापदों और आरण्यकों को पानी पिलाती रही है। अभी–अभी सोयी है। अभी वह कच्ची नींद या 'बालिका नींद' में है। उसकी 'बारी नींद' में निषाद का करुण आवाहान खलल डाल रहा है। पर नदी को जगना ही पड़ता है। नदी में निषाद के आशीर्वाद के मात्र बाहु–विक्रम से कोई पार नहीं पा सकता। इसी से निषाद कातर कंठ से प्रार्थना कर रहा है–'माँ, जल्दी कर, अब भरोसा टूट रहा है।श' नदी की 'बारी नींद' टूट जाती है और वह आँख मलती उठती है, पहचानती है कि यह और कोई नहीं उसकी बालू पर आजन्म खेलने–खाने वाली उसकी प्यारी संतान ही है। नदी उठकर भरमुँह, कंठ खोलकर आशीष देती है, नखशिख–रक्षा कवच देती है और साथ ही नाव के अंदर वेग भरती है। इस प्रकार कर्तव्य का, कर्म का भार लादे हुए वह नाव धर्म के घाट जा लगती है, जो सबसे सुरक्षित घाट है और सार्थ सुरक्षित पार उतर जाता है।

स्तब्ध निचाट रात में मानव कंठ का ऐसा मुक्त प्रार्थना–संगीत निश्चय ही क्रुद्ध रात्रिचरों को, कपटी कामरूपी अपदेवताओं को और साँप जैसे फण काढ़े वन्या की क्रुद्ध लहरों को सबकुछ को अपने वशीकरण से बाँध सकता है, ऐसा अनुभव करते–करते मैं इस गान को सुन रहा था, और बिना दाद या प्रशंसा की प्रतीक्षा किये हुए चंदर एक गीत के बाद दूसरा गीत उठाते जा रहे थे। लगातार पाँच गीत मैं सुनता रहा, एक से एक अपूर्व। अंतिम गीत का भाव कुछ इस प्रकार

था–'ओ नदी, ओ माता, मेरी नाव पूरब देश से धीमे-धीमे लौट रही है। यह नाव तुम्हारी पूजा के लिए रँगी हुई पियरी से बोझी है, तिरंगी चुनरी से बोझी है, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे शृंगार के लिए हार-फूल से बोझी है, जवाकुसुम और कनेर से बोझी है, तुम्हारी सात पुष्पांजलियों के लिए इस पर केले के पत्तों पर शेफाली के फूल लदे हैं, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, इस नाव पर तुम्हारी माँग के लिए सिंदूर और श्रीअंगों के लिए हल्दी बोझी गयी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे चरणों पर अर्घ्यधार गिराने के लिए लौंग-मधु और दूध के सात घटों से बोझी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो।'

गान के अंतिम भाग में नदी अपने निषाद-शिशु की बात सुनकर भरमुँह अर्थात् मुक्तकंठ कलकल ध्वनि से आशीर्वाद देती है–'ओ निषाद, जैसे मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नहीं कर सकता वैसे ही तू भी अखंड-अच्छेद्य है। और जब तक मैं हूँ, जब तक मेरी धारा है, तब तक तू भी वर्तमान है।श' गीत सुनकर मुझे लगा कि नदी हाथ उठाकर कुछ और भी कह रही है जिसे चंदर सुनते हैं, समझ नहीं पाते हैं, परंतु मैं खूब समझ रहा हूँ। मुझे लगा कि नदी कह रही है कि ओ निषाद, तेरी संस्कृति, तेरे संस्कार, तेरा मन, सब कुछ इस जल की तरह है, जो टूटता नहीं, कटता नहीं, भले ही दब जाता है और आकृति बदल लेता है, पर अस्तित्त्वहीन नहीं होता है - यहाँ तक कि सूख जाने पर भी या तो अंत:सलिला का अंग बन जाता है या उड़कर मेघ बनकर पुन: लौटता है।

भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं।

इस अर्थ में निषाद-द्रविड़-आर्य-किरात इन चारों महाकुलों में निषाद ही अग्रज हैं। परंतु मध्य प्रदेश आदि कुछ क्षेत्रों को छोड़कर इसका इतना घोर आर्यीकरण हो चुका है कि आज यह पहचाना नहीं जा सकता। ऊपर-ऊपर से यह स्वयं निषादत्व खोकर आर्य हो चुका है, पर भीतर-भीतर तथाकथित भारतीय आर्य का अंग विश्लेषण करें तो पता चलता है कि इस महानायक के अर्थात इस पितर भारतवर्ष के इतिहास वपु की शिरा-धमनी में निषाद-मन प्रवाहित है, स्नायुमंडल की रचना द्रविड़ संस्कृति करती है, अस्थि धर्म की रचना में किरात-संस्कृति की रंग-बिरंगी बनावट है और इसके मनोमय कोषों की रचना

आर्य-सरस्वती करती है। चंदर के अंदर तो निषाद-संस्कार ही हैं, वह तो गंगातीरी निषादों की सातों आर्यीकृत 'कुरियों' में से एक से संबंधित ही हैं, जिन्हें रामचंद्र ने पावन कर दिया था। परंतु यह मैं जो अपनी 'स्वधा' को 'वत्स-भृगु-यमदग्नि-च्यवन-आप्नवान' के पंचप्रवर में जोड़ता हूँ मैं भी इस आदिम निषाद से वंचित नहीं हूँ। मेरे संस्कार प्रवाह में भी यह बैठा है। मेरी भाषा, मेरे भोजन-पान, मेरी खेतीबाड़ी-हरबा-हथियार के मध्य वह कृष्णकाय आदिम निषाद अपने को व्यक्त कर रहा है, जिसने विश्व में सर्वप्रथम इसी गंगा की घाटी में धान-चावल का आविष्कार किया था, भैंस को दुधारू बनाया था, जड़ी-बूटियों और फलों को पहचाना था और उन्हें नाम दिया था तथा खेती के औजारों को गढ़ा था। चंदर भाई के गुरु रामदेवाजी के मुँह से मैं निषाद कुल की गरिमा की अनेक ऊल-जलूल बातों को सुनता आ रहा हूँ और आश्चर्य होता है कि कभी-कभी उन बातों का आधुनिक भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व से अजब सटीक बैठ जाता है।

चंदर मुझसे अकसर कहा करते हैं—'अरे हम लोग जरा काले हैं, नहीं तो आप लोगों से नीच थोड़े हैं!..श' और प्रमाण न पूछने पर भी रामदेवाजी की अपूर्व ऊल-जलूल थ्योरी का संदर्भ तुरंत देते हैं, जिसे सुनकर मैं भौचक्का रह जाता हूँ। तर्क करने जाऊँगा तो चंदर डपटकर कहेंगे - 'अरे गोसाईं जी को पढ़ो, गोसाईंजी को! है न? 'तुलसी सुनि केवट के वर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है।' सोचो जरा, प्रभु जानकी की ओर देखकर क्यों हँसे! क्यों न लक्ष्मण की ओर देखकर हँसे? बोलो?श' और यह सब सुनकर क्या बोलूँ, मेरी तो सरस्वती ही बेहोश हो जाती है। चंदर माझी स्वयं समाधान करते हैं—'अरे भाई, गोसाईंजी बड़े सावधान लेखक थे। उनके एक-एक 'लफ्ज' का भी मतलब है, बेमतलब तो उन्होंने कुछ कहा ही नहीं है। यहाँ पर मतलब यह है किश' और तब गुरु रामदेवाजी की शैली में तर्जनी नचाते हुए चंदर भाई तौल-तौलकर शब्दों की चोट करते हैं, 'मतलब यह कि, रामचंद्र जी सीताजी की ओर इशारा कर रहे हैं, कि यह निषाद तो समवर्ण का है, अत: कहीं पाँव धोने के हठ के बहाने कन्यादान करने का उपक्रम तो नहीं कर रहा है? पर इस गूढ़ भाव को सबके सामने कैसे कहें! इसी से सीता की ओर नजर मारकर हँस देते हैं।श' मुझे स्मरण है कि जिस दिन प्रथम बार इस थ्योरी से परिचित हुआ था, उस दिन अपनी सारी पढ़ी हुई विद्या को धिक्कारता हुआ घर लौटा था।

पहली बार यह बात ऊटपटाँग अवश्य लगी थी। परंतु कालांतर में भारत की मौलिक जातियों के संबंध में श्री बी.एस. गुहा, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और डॉ. हटन आदि के प्रबंधों को पढ़ने पर मुझे लगा कि इक्ष्वाकुओं और निषादों की कुल परंपरा के संदर्भ में यह थ्योरी अक्षरशः सत्य भले ही न हो, परंतु यह सारी बात बिल्कुल वृषभ-दुग्ध या शश-शृंग-जैसी भित्तिहीन नहीं। आधुनिक पंडितों का विचार है कि रामायण की मिथक निषादकल्पना से प्रसूत है।

निषाद वृषाकपिदेवों और अपदेवताओं को पूजने वाली जाति है। वैदिक आर्यों में अवतारवाद स्वीकृत ज्ञात होता है, परंतु अत्यंत हलके तौर पर। 'त्रिविक्रम विष्णु' या 'गोपा विष्णु' के उल्लेख अवतार के द्योतक न होकर देवता के बहुरूपी रूपांतर के द्योतक हो सकते हैं। देवता प्रेममय है और हमारे त्रण के लिए वह 'माया वपु' धारण करता है, इस तथ्य का दृढ़ आधार वैदिक मंत्रों में नहीं मिलता है। इसी से आधुनिक विद्वानों की कल्पना है कि भारतीय संस्कारों में अवतारवाद का प्रवेश निषादों-जैसी आनंदवादी और द्रविड़ों जैसी भाववादी जातियों की कल्पना की दान है।

इस संदर्भ में स्मरण रखने की बात यह है कि रामायण के मिथक के प्रधान संपादक वाल्मीकि की छंद सरस्वती का जागरण एक निषाद द्वारा किये गये क्रौंचवध के फलस्वरूप ही संभव हुआ था। पूरी रामायण की कथा भले ही निषाद-कल्पित न हो, परंतु उसके ताने-बाने में कुछ प्रसंग और कुछ विश्वास तो अवश्य ही ऐसे हैं, जो निषादों में प्रचलित रहे होंगे। संभवतः वाल्मीकि के समय निषादों में किसी उनके ही रंग के अनुरूप 'नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयनश' देवता की कल्पना एवं उसके महा अवतरण में विश्वास प्रचलित रहा होगा, जो आकर इन निषादों को पाप-ताप से मुक्त करके गले लगाएगा और पंक्ति-पावन कर देगा।

किसी चरम देवता अथवा परम पुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा बहुत काल से निषाद जाति कर रही थी। किसी 'दूर्वादलश्यामं' देवता के आगमन की, उसके द्वारा महिमा-मंडित और पुण्यशाली बनाये जाने की कल्पना पुरुष प्रति पुरुष निषाद जाति करती आ रही थी, और इसी बीच में इक्ष्वाकुओं के आर्यकुल में एक प्रतापशाली राजपुरुष का जन्म हुआ, और उसके शील-स्नेह और चरित्र में तथा शताब्दियों प्रतीक्षित देव कल्पना में साम्य दिखाई पड़ा, और यह साम्य निषादों में प्रचलित अवतार की कल्पना के चौखटे में पूरा-पूरा उतर गया तथा उन्होंने उक्त इक्ष्वाकुवंशीय कुमार को, उसके

अलौकिक कर्म को, अपने महादेवता के अवतरण के रूप में देखा। ऐसा होना असंभव नहीं।

परंपरा के अनुसार वाल्मीकि ने जब राम को अपने महाकाव्य का नायक चुना, तो उनकी प्रज्ञा में उक्त-निषाद विश्वास निरंतर सक्रिय रहा और उन्होंने गौरवपूर्ण आर्यवंशीय कुमार को दूर्वादलश्यायम एवं नीलोत्पलश्याम रूप में देखा, तथा कथा के अंदर वृषाकपियों का प्रसंग लाकर निषाद-कल्पना को पुनः नया संस्कार दिया। वाल्मीकि गंगा और तमसा के बीच के अरण्य में रहते थे और प्रचलित निषाद-विश्वासों से उनका न प्रभावित होना ही अस्वाभाविक होता। रामकथा इस बात का प्रमाण है कि गंगातीर के निषादों का जीवन रामचंद्र द्वारा ही संस्कार समृद्ध किया गया है। अतः राम का उनकी कल्पना के केंद्र में प्रवेश कर जाना असंभव नहीं। हो सकता है कि निषादों की कल्पना रही हो कि उनका प्रिय देवता जब माया-मनुष्य बनेगा, तो उसे विमाता दुःख देगी, उसे वन-वन भटकना पड़ेगा, वह दुःखी देवता ही निषादों का आलिंगन करके उन्हें परम पावन और शुद्ध बनाएगा और वही देवता ऐसा सुशासन स्थापित करेगा कि धरती पर से रोग-शोक-पाप की छाया हट जाएगी और दुःखी कोई नहीं रहेगा। और इस निषाद-कल्पना को राम के ऐतिहासिक चरित्र में वाल्मीकि ने संभवतः अंतर्भुक्त कर दिया है।

यह तो सभी जानते हैं कि असम, बंगाल या अन्य प्रदेश की निषाद जातियों यथा कैवर्तों, धीवरों, तीयरों या मध्यप्रदेश के मुंडा, कोल आदि को जो भी माना जाता रहा हो, परंतु सनातन से गंगातीरी केवटों और माझियों को पवित्र माना जाता रहा है, तथा उनके द्वारा स्पर्श किया हुआ जल सनातन काल से ग्रहण किया जाता रहा है, क्योंकि रामचंद्र और बाद में इक्ष्वाकुओं के कुल पुरोहित वशिष्ठजी ने निषादराज का आलिंगन करके उनकी अस्पृश्यता समाप्त कर दी थी और उन्हें आर्य-महिमा से मंडित कर दिया था। राम नाम की सील मुहर के आगे मनुस्मृति भी नतमस्तक है। इस मिथकीय प्रसंग का ऐतिहासिक तात्पर्य यह है कि इक्ष्वाकुवंशीय आर्यों के संसर्ग में आकर गंगातीर के निषादगण आर्य सभ्यता के अंतर्गत आ गये। यहाँ तक कि निषादों ने अपनी भाषा भूलकर आर्य भाषा को ही मातृभाषा मान लिया। उनका खान-पान, रहन-सहन आर्यों की पद्धति पर यथासामर्थ्य चला गया। गंगातीर के केवट कहते हैं कि रामचंद्र जी ने उन्हें दो हुक्म दिये थे। एक तो नाव को तट पर बाँधकर भी जल में ही छोड़ देना, घसीटकर बालू पर नहीं करना। दूसरा यह कि कच्ची मछली कभी मत खाना।

सदा नमक-हल्दी-सरसों देकर मछली खाना या भूनकर मछली नमक के साथ खाना। यह दूसरी आज्ञा देखने में भले ही साधारण लगे, पर उनके अंदर नागरिकता और आर्य रीति के प्रवेश कराने का प्रयत्न है। अन्य प्रदेशों के निषादों की अपेक्षा गंगातीर के निषादों के चाल-चलन, कथन-भंगिमा आदि में विशिष्ट गौरव झलकता है। अन्य जातियों के अपने-अपने लोककाव्य हैं, यथा अहीरों की 'लोरकी', कहारों का 'बिहुला' आदि। निषादों में नौकानयन और प्रेम संबंधी फुटकल गीत अवश्य है, परंतु कथा-काव्य की जगह वे तुलसीदास की रामायण ही गाते हैं। राम ही उनके लोकनायक हैं, अन्य कोई नहीं। राम के प्रति उनमें एक सहज समर्पण और मोह है 'तुम केवट भव सागर केरे। नदी नाव के हम बहुतेरे।'

पूर्वी उत्तरप्रदेश के गंगातीरी निषादों में सात कुल हैं—केवट, चाँई, बथवा, धीवर, तीयर, सोरहिया और मुंडार (मुंडार शब्द 'मुंडा' से मिलता-जुलता है, जो मध्यप्रदेश की एक आर्यत्व वंचित निषाद शाखा का नाम है और हो सकता है कि सुदूर अतीत में इनसे कोई संबंध भी रहा हो।)। इन सात कुलों में रामचंद्र का सखा निषादराज गुह किस कुल का था? चंदर भाई तो कहते हैं कि निषादराज चाँई थे। हमारे गाँव में चाँई और केवट दोनों हैं और दोनों यह गौरव लेना चाहते हैं। चाँई कहते हैं कि जेठे तो हमीं लोग हैं। शृंगवेर पुर वाले केवट हैं या चाँई, मुझे पता नहीं। ये गोस्वामी जी ने साफ लिखा है—श्माँगी नाव न केवट आना।' अत: मैं कहता हूँ कि शृंगवेरपुर का निषाद चाँई नहीं, केवट ही था। तब चंदर के लिए इतने बड़े कुल-गौरव को छोड़ना मुश्किल हो जाता है और वे हठपूर्वक कहते हैं—'यहीं पर जरा-सी बिल्कुल जरा-सी, भूल गोसाईंजी से हो गयी है। बात यह है कि वे ब्राह्मण थे और हम लोगों की कुरी वगैरह भीतरी बातें वे क्या जानें? उन्हें लिखना चाहिए था 'चाँई' तो लिख दिया 'केवट'। आखिर जेठी कुरी तो हम चाँई ही हैं। सभा का सरदार तो चाँई ही होता आया है।श' चंदर के अनुसार शुद्ध पाठ होना चाहिए, 'माँगी नाव न चाँई आना।' या 'तुलसी सुनि चाँइहि के वर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है' आदि। मैं समझता हूँ कि भाई चंदर, चाँई लोग तो इससे भी बृहत्तर गौरव के अधिकारी हैं। यह चाँई निषाद ही था, जिसके बाणों से क्रौंचवध हुआ और फल हुआ वाल्मीकि की छंद-सरस्वती का जन्म। चाँई नहीं होता तो रामायण ही लिखी नहीं जाती। अत: चाँई का कम महत्त्व नहीं। परंतु तो भी चाँई कुल-कमल-दिवाकर चंदर निषाद इस प्रश्न पर संधि नहीं करते और अपनी ही फेंटते जाते हैं कि गुह निषाद उनके

ही कुल 'चाँई' का पूर्वपुरुष था। अंत में मुझे चाँई-गौरव के प्रति नतमस्तक होकर चुप हो जाना पड़ता है।

मैं अपनी जन्मभूमि गंगातट से प्रायः दूर रहने को बाध्य हूँ और जीविकोपार्जन के लिए इस किरातारण्य से घिरे आर्यों के बीच, लौहित्य तट पर, निवास कर रहा हूँ। मेरे पैरों में चक्र है और मुझे दर-दर भटकने का शाप मिला है। इस शाप भोग में भी बड़ा रस है, बड़ा सुख है। परंतु फिर भी कभी-कभी थक जाता हूँ और मन उदासी का व्यूह काटने में असमर्थ हो जाता है। तब अपने भीतर आत्मा को चींथते-फाड़ते कुत्तों को सम्मोहन में लाकर फिर थपकी देकर सुला देने के लिए मुझे किसी श्लोक, किसी गान अथवा किसी दृश्य का चिंतन करना पड़ता है और ऐसे वेदना विकल क्षणों में अपनी प्यारी नदी की ज्योत्स्ना विगलित रजत-धारा, चंदर की बातें और मीन-मिथुन जैसी दोनों भाभियों रूपसी और पियासी के गाये गीतों की मनोरम स्मृतियाँ बड़े काम की साबित होती हैं। जब मेरे मन के अंदर उन दोनों द्वारा गाये गये किसी गीत की स्मृति जगती हैं, और मन भीतर ही भीतर उसे गाने लगता है तो लगता है कि आत्मा और मन के सारे नख-दंत-क्षतों पर अपनी प्यारी नदी की झिर-झिर धार प्रवाहित होने लगी। लगता है कि वेदना-विकल मस्तक में किसी सुखद शीतल देवधुनी का जन्म हो रहा है, ऊपर से कोई फूल बरसा रहा है, नीचे रूपसी-पियासी के कंठ से निःसृत गान की डोर पर खिंची चंदर भाई की पाल तनी नाव धीमे-धीमे आ रही है, उनके लिए हल्दी, सिंदूर और मेरे लिए भोग-प्रसाद का भार लादे हुए। यह ध्यान-लब्ध दृश्य मुझे तीनों लोकों का राजा बनाकर निहाल कर जाता है, और मैं भूल जाता हूँ अपने कंठस्वर की अष्टावक्र भंगिमा को और मैं भी गुनगुनाने लगता हूँ उन्हीं से सुना हुआ एक गान रू

'राधे-रुकमिनि चलेनी नहनवा, सुखा के गंगा ना।
भइली बलुआ क रेतवा, सुखा के गंगा ना!
रोवेली अटइन-रोवेली बटइन, रोवे कुआँ क पनिहारिन ना।
मुँहवा रुमलिया देके रोवेला केवटवा
कि मोरी बोझल नइया अगम भइली ना!'

– 'राधा और रुक्मिणी स्नान को चली हैं, पर गंगाजी सूख गयी हैं, यह पापहरा नदी मृत हो चुकी है, चारों ओर बालू की रेती है, चारों ओर तृषा ही तृषा है, अटवी-कन्या रो रही है, बटोही की वधू रो रही है, मुँह पर रूमाल रखकर बेचारा निषाद रो रहा है कि उसकी बोझी नौका अब अगम हो गयी!श' फिर गीत

आगे चलता है और राधा अपने आँचल की खूँट में बँधी सात फूल लौंग रुक्मिणी को देती हैं। रुक्मिणी लौंग को रगड़कर पीसती हैं। राधा और रुक्मिणी नतजानु होकर नदी माता को लौंग-धार का अर्घ्य देती हैं। और तब, गीत की अंतिम कड़ी में

'राधे रुकमिनि कइली पूजनिया, छछा के गंगा ना
भइली दूनो नख आर-पार, छछा के गंगा ना!
हँसेले अटइन, हँसेले बटइन, हँसे कुआँ क पनिहारिन ना!
फेंक के रुमलिया हँसेला केवटवा,
कि मोर बोझल नइया ऊपर भइली ना!'

– 'राधे और रुक्मिणी ने छछाकर अर्थात् हुलासपूर्वक गंगा का पूजन किया। नदी ने भी उल्लासपूर्वक आशीष देकर दोनों तटों को नखानख (लबालब) जल से परिपूर्ण कर दिया। चारों ओर प्रसन्नता छा गयी। जीवन लौट आया। अटवी कन्या हँस पड़ी। बटोही की वधू हँस पड़ी। कुएँ की पनिहारिन भी हँस पड़ी और सबसे बढ़कर नदी की संतान केवट मुँह पर से रूमाल फेंककर मुक्तकंठ से ठहाका लगाकर हँस पड़ा कि उसकी बोझी नौका अब ऊपर हो गयी, अब यह नदी का अगम जल ही तरणी का सुगम मार्ग बन गया, अब उसकी नाव गंतव्य दिशा की ओर बाणवेग से छूटेगी।'

चंदर माझी के गुरु रामदेवाजी एक अद्भुत जीव हैं। उनके लिए 'व्यक्ति' न कहकर सर्वभूतमय 'जीव' शब्द का प्रयोग ही मुझे अधिक उपयुक्त जँचता है। अंतिम विश्लेषण में हम सब जीवात्मा ही ठहरते हैं और यही कारण है कि इस देश में 'जय जीव' श्रेष्ठतम अभिवादन वाक्य माना जाता था। साक्षी हैं गोस्वामीजी जिनके महाकाव्य 'मानस' में राजा दशरथ के मंत्री 'जय जीव' कहकर शीश झुकाते हैं। 'जय जीव!' अर्थात् भीतर की जीवात्मा नामक महासत्ता की जय हो जो हममें, आपमें, पशु-पक्षी में, तृण-तरु सबमें हैं। यह शुद्ध वेदांती प्रमाण है। आज भी हिंदी भाषा में हम जिसे बड़ा मानते हैं जिसमें ब्रह्म के अलौकिक स्फुरण का स्पष्टत: हमें भान होता है, उसके नाम के पीछे 'जी' लगाते हैं, जो 'जीव' का ही रूपांतर है। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा था कि एक गणतंत्रवादी पुरुष के लिए 'मिस्टर' अर्थात् 'श्री' से बढ़कर कोई उपाधि नहीं, इसके आगे 'जनाब', 'सर', 'स्कॉयर', 'बाबू', 'महाराजा' आदि सब तुच्छ हैं। उसी दृष्टि से एक वेदांती के लिए 'जी' से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ उपाधि हो ही नहीं सकती। एक वेदांती के लिए किसी भी व्यक्ति के अन्य विरुद मिथ्या

हैं, मोहमाया हैं, रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत जैसी भ्रांतियाँ हैं। उसका तो एक ही विरुद असली है और वह है 'जीवात्मा' जिसका संक्षिप्त रूप है 'जी' या 'जीव'। अत: जब मैं गुरु रामदेवाजी को 'जीव' कहकर पुकारता हूँ, तो इसमें उनकी तौहीनी नहीं, उनकी सर्वोच्च गरिमा का द्योतन है। साथ ही, इससे हमारा और उनका परस्पर अपनत्व व्यक्त होता है। अत: जब मैं रामदेवाजी को 'अद्‌भुत जीव' कहता हूँ तो 'जीव' से हमारा तात्पर्य अँगरेजी का 'क्रीचर' शब्द नहीं, वेदांत का 'जीवात्मा' होता है। और 'अद्‌भुत' इसलिए कि वे कभी-कभी मुझे साक्षात अद्‌भुत रस का सगुण रूपांतर लगते हैं।

वे जन्म से ही अद्‌भुत हैं, जब वे भूमिष्ठ हुए तो हल्ला हो गया कि बच्चा मरा हुआ जनमा है। दाई बच्चे को हाँडी में कसकर गाँव के बाहर परती जमीन में गयी, गड्‌ढा खोदा गया। हाँडी गड्‌ढे में रख दी गयी। पता नहीं दाई के मन में कौन-सी प्रेरणा आयी कि उसने मिट्‌टी भरने के पूर्व हाँडी का ढक्कन एक बार खोलकर देखा तो पाया कि बच्चा टुकुर-टुकुर ताक रहा है। बस, फिर क्या था, उसने जल्दी-जल्दी बच्चे को बाहर निकाला। दूसरे क्षण, उसी वंध्या 'परती' भूमि में शिशु का प्रथम कंठ फूटा एवं कुछ मिनट के बाद ही केवटों का उदास मुहल्ला ढोलक और सोहर से पुन: मुखरित हो उठा। जीवन का प्रथम स्तवगान उन्होंने वंध्याभूमि में किया था और आज भी इस अस्तोन्मुख वेला में वे चिर-कुमार ही हैं।

उनकी भोजन-पान की रुचि भी विचित्र है। सुरती-तंबाकू से घोर वैराग्य, परंतु 'ताड़ी' और 'कारन' (देव-अर्पित मदिरा) खूब चलते हैं। दूध से जितना वैर हैं, घोर खट्‌टी दही से उतनी ही आसक्ति। सबको 'सजाव' अर्थात् ताजी-मीठी दही अच्छी लगती है, तो इनकी मान्यता है कि मीठी दही असली दही नहीं है। 'अरे दही हो तो ऐसी हो कि एक बार मुरदे की जबान पर रख देने पर वह भी चौतन्य होकर उठ बैठे!... दही जितनी खट्‌टी होगी उतना ही उसमें ताड़ी का मजा आयेगा।' रामदेवाजी कबके छब्बीस से खब्बीस हो गये, सुर्खाब पर झुर्रियाँ पड़ गयीं, परंतु मन में चिरयुवा, मौज-मस्ती को परम धर्म मानने वाला आदिम निषाद अब भी रह-रहकर जोर मारता है। वही ठहाका, वही दुस्साहस, वही छत्तीसा, वही ताल-पखावज जो सारी जवानी देश-विदेश नौका खेते हुए और गंगा-ब्रह्मपुत्र की चंचल धार से लड़ते हुए व्यक्त होते रहे, आज भी रह-रहकर अभिव्यक्त हो जाते हैं। उनका चिरकुमार मन अब भी छोकरा है, पर भुजाएँ थक गयी हैं। अब पाँच-छह साल से बाहर नहीं जाते। यही गंगा तट

पर 'छाड़न' भूमि में परवल, करैले, खरबूजे उगाकर गुजर कर लेते हैं। न आगे नारी रूपी 'नकेल' है और न पीछे परिवार रूपी खूँटा-पगहा है। रात्रिचरों अर्थात शृगालों, श्वापदों और आभीर बालकों के उत्पात से जो कुछ बच रहता है उसमें एक आदमी की गुजर हो ही जाती है, और कभी अपने दैवी, अर्धदैवी या मानवी इष्ट मित्रें को षोडशोपचार सामग्री में कुछ कमी हो जाए तो चंदर जैसे 'मन को बड़ी महीप' शिष्य हैं ही।

देखने में रामदेवाजी छोटे कृष्णवर्ण, गठा शरीर, पकहर केश, रतनार नयन, चौड़ा जबड़ा, पर नुकीली नाक वाले टिपिकल गंगातीरी निषाद हैं। माथे पर सिंदूर और कंधे पर पीला या गुलाबी गमछा लगाये निर्भीक कंठ से देवी का 'पचरा' गाते हैं और क्षण-प्रतिक्षण साँवली होती हुई संध्या में नदी जल के भीतर 'कारन' वारि गिराकर पता नहीं, किसकी पूजा करते हैं, दीप जलाते हैं और हमारे जैसों को चना-गुड़ का प्रसाद देते हैं। उस समय साँझ के सँवराते अर्ध-तमस वातावरण में, जब वहाँ मुझे छोड़कर और कोई तीसरा नहीं रहता, कोई शाबर-मंत्र बुदबुदाते हुए वे अचानक रतनार आँखें खोलते हैं, तो उस क्षण वे मुझे नदी के साक्षात अपदेवता की तरह ज्ञात होते हैं।

कृष्ण पक्ष की रात में नदी के तट पर मैं अकेले उनके साथ बैठकर उनकी बातें सुनता हूँ। उनकी निरक्षर, पर अद्भुत कल्पनाप्रवण शैली से ऐसा भयस्तब्ध या अद्भुत-मौन वातावरण बन जाता है कि कभी-कभी मन के असावधान क्षण में मुझे लगता है कि नदी की धारा में या हवा में कोई खिलखिलाकर अभी-अभी हँस पड़ा है अथवा अभी-अभी नदी जल से निकलकर कोई पास से गुजरा है या अभी-अभी मेरे अवचेतन में ठहक लाल पाढ़ साड़ी पहने कोई अपना अस्तित्त्व जता गयी है। उनकी बातें ही ऐसी होती हैं कि सुनने वाले की कल्पना शक्ति अति जाग्रत हो जाती है, चेतन स्तर नशे में ढलने लगता है, और अवचेतन के जीव रह-रहकर झाँक जाते हैं। दूसरे ही क्षण पुनः सावधान हो जाने पर कहीं कुछ नहीं। प्रवाद है कि उन्होंने भूत-डामरविद्या को 'कामरूकमच्छा' अर्थात् कामरूप में जाकर 'गुणियों' से सीखा है। प्रति पूर्णिमा को नदी के उस पार जाकर वे 'यक्षिणी-साधन' करते हैं, जो पता नहीं क्या बला है। पर यदि वह यक्षिणी 'मेघदूत' के यक्षों की लीलावधू हो और मंत्रबल से अलका छोड़कर ऐसे सुपुरुष के पास उसे आना पड़े तो उसकी किस्मत में लाल 'बोरो' चावल का नैवेद्य, भुनी मछली, 'कारन' एवं जवाकुसुम या पीत कनेर का हारफूल, यही सब उपलब्ध होगा! और ऐसी अवस्था में कल्पवृक्ष शीतल छाया, मंदाकिनी का

मणिमय तट और 'मधु रतिफलं' की मदिरा को त्यागकर इस मर्त्य महीरुह-स्थाणु के पास वह आएगी ही क्यों? पर रामदेवाजी का विश्वास है कि इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में वे यक्षिणी को वशीभूत कर ही लेंगे। एक ही जन्म की साधना से थोड़े कुछ होता है! अरे, 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं!श

इधर मैंने बी.एस. गुहा, डॉ. हटन, डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के कुछ प्रबंधों को पढ़ा है और निषाद अर्थात 'आस्ट्रिक' और किरात अर्थात 'इंडो-मंगोलीय' संस्कृतियों के संबंध में भाषावैज्ञानिक और पुरातत्त्व संबंधी तथ्यों की चर्चा तथा पढ़ने-सुनने का भी थोड़ा-बहुत अवसर मुझे मिला है। यों मेरा सारा ज्ञान पल्लवग्राही ही रहा है परंतु इस सबमें मुझे चंदर माझी और रामदेवाजी की ऊल-जलूल बातों की 'हुंकारी' मिल जाती है और रामदेवाजी के ऊल-जलूल तथा गुहा-हटन-चाटुर्ज्या आदि के ऊहापोह में कोई न कोई संबंध अवश्य है और वह संबंध बादरायण संबंध मात्र न होकर कोई तत्त्वगत सार्थक संबंध है, ऐसी मेरी धारणा है।

हमारे गंगातीरी या उत्तर भारतीय निषाद, जिन्हें हम आम तौर से 'मल्लाह' कहते हैं, मूलतः 'आस्ट्रिक' या 'अग्निकोणीय' नस्ल के हैं, जो भारतीय धरती के आदि मालिक थे। उत्तर भारत में हर अर्थ में इनका इतना आर्यीकरण हो चुका है कि इनके अंदर निषादत्व का अस्तित्त्व बहुत कम रह गया है। भाषा बदलने से संस्कृति बदल जाती है। इनकी भाषा आर्यभाषा हो गयी। वे अपनी उस आदिम भाषा-भूषा-भोजन को त्याग चुके हैं, जो अब भी मुंडा-कोल आदि मध्यप्रदेशीय 'आस्ट्रिकों' या 'निषादों' में वर्तमान है। इस आर्यीकरण का प्रतीकात्मक संकेत है राम द्वारा निषादराज के कुल को पावन करने की कथा में। आर्य-निषाद मिश्रण महाभारत में व्यापक तौर पर स्वीकृत था। और इस मिश्रित नस्ल के सबसे महिमामय फल हैं द्वैपायन कृष्ण व्यास। आज के मध्यप्रदेश अर्थात् त्रेता के जन्मस्थान और दंडकारण्य में यह प्रक्रिया उतनी ही तीव्र नहीं चली फलतः वहाँ अब भी 'निषाद संस्कृति' अपनी निषाद भाषा-भूषा-भोजन के साथ अक्षुण्ण है। परंतु उत्तर भारत में आर्यीकरण हो जाने के बावजूद भारतीय भाषा, भारतीय चिंतापद्धति और भारतीय स्वभाव पर इनका बड़ा प्रभाव है। लगता है कि इतिहास का आदिम निषाद राजनैतिक स्तर पर पराजित होकर भी हमारे मन और बुद्धि में प्रवेश कर इतनी सीमा तक विजयी हो गया कि विजेता आर्यत्व के कायाकल्प और मानसकल्प दोनों एक साथ घटित हो गये एवं उत्तर भारत की देह, वाणी, मन और बुद्धि का चतुरंग रूपांतर हो गया। 'मल्लाह' शब्द तो पेशावाचक शब्द

है। मध्य युग में जब जलयात्र और जहाजरानी पर अरबों का पूर्ण आधिपत्य हो गया तो इस शब्द का 'नाविक' के अर्थ में अधिक प्रचलन हो गया। मूलत: यह अरबी शब्द है। इसका प्रचलन भी हिंदी प्रदेशों तक ही सीमित है। असल संज्ञा है निषाद।

बुद्ध के समय उत्तर भारतीय निषाद आर्यघराने के अविभक्त अंग बन चुके थे। प्राय: कारीगर तथा कमकर इन्हीं में से आते थे। इनके स्वभाव में आर्यों जैसी चिंतन-प्रवणता तथा महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। द्रविड़ों की तरह इनमें भावुकता तथा कवित्व नहीं था। ये तो शुद्ध आनंदवादी थे। नाचो, कूदो, परिश्रम करो, मौज उड़ाओ... जोगीड़ा सरर्र! उत्तर भारतीय त्योहार होली की विशिष्ट भंगिमा का मूल स्रोत निषाद स्वभाव ही है। दिन के लिए खाने को हो तो कल की फिक्र करने वाला जोरू का भाई!

द्रविड़ संचयवादी थे, कल की फिक्र करते थे, फलत: व्यापार और नगर संस्कृति की रचना उन्होंने की। पर निषाद आरण्यक तबीयत के थे। जो कमाया उसे संवत्सर के भीतर व्यय करके नये संवत्सर के साथ नवान्न का भोग करो - यह थी उनकी दृष्टिभंगी। आज भी मतसा के केवट चार मास बाहर तरबूज बेचकर या नौका खेकर हजार रूपये लेकर लौटते हैं तो उसे जल्दी से जल्दी मछली-भात, ताड़ी और जुआ में मास-डेढ़ मास में खर्च कर देने की कोशिश करते हैं। उनको भय होता है कि उनका कमाया रुपया कहीं जमकर दही न बन जाए, या सड़ न जाए, अत: फेंको इसे जल्दी बाजार में। परंतु भारतीय खेती का सूत्रपात करने वाले निषाद ही हैं। गंगातट के जंगलों को साफ करके पहले-पहल इन्हीं के द्वारा कृषि कर्म का श्रीगणेश हुआ। खेती के औजारों के नाम उन्हीं की देन है। विविध बीजों और अन्नों का जंगली घासों के भीतर उन्होंने ही आविष्कार किया। उनमे मुख्य है 'धानश! 'यव' और 'गोधूम' आर्य शब्द हैं, 'ब्रीहि' (धान) द्रविड़ शब्द हैं, जो अँगरेजी 'राइस' का आदि बिंदु है-ब्रीहि-रीहि-रीसि-'राइस'। परन्तु भाषावैज्ञानिकों का कथन है कि 'चावल' शब्द निषाद (आस्ट्रिक) शब्द है जिसके मूल में है 'जोम' या 'जाम' (खाना) जो मुंडा-कोल बोली में अब भी प्रचलित है। जोम-झजाम-झचाम-झ चाव-झचावल। यही नहीं, आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि में कदली, नारिकेल, ताल, तांबूल, वातिड्गण (बैंगन), आलाबु (लौका), निंबुक, जंबू, कर्पास, शाल्मली इत्यादि अनेक वृक्षों और तरकारियों के नामों का मूल स्रोत निषाद भाषा ही है। गंगातीर पर पाया जाने वाला काँटेदार वृक्ष 'बबूल', जिसके लिए असमिया भाषा में एक सुंदर नाम है

'तरुकदंब', शुद्ध निषाद शब्द है। हिंदी में 'बबूल' कहते हैं, बाँगला में 'बाबला'। 'अश्व' आर्य शब्द है। परन्तु 'साद' (टट्टू) निषाद शब्द है। 'साद' से ही 'सातवाहन' अर्थात् घुड़सवार शब्द निकला है। कुक्कुट, मोर, मातंग, गज शब्द भी निषाद बोलियों से संबंधित हैं। 'बाण' और 'लगुड़' (भोजपुरी 'लउर' अर्थात् लाठी) शब्द जिनसे क्रमशः बाँगला और हिंदी के पुरुष चिह्न द्योतक शब्द निकले हैं, निषाद शब्द है। निषादों ने न केवल खेती करना बल्कि गुड़ बनाना, पान का प्रयोग, 'कोड़ी' (बीस) में गिनने की पद्धति, बुनाई कला, भैंस और हाथी पालना आदि का भी समारंभ किया है। ए.एल. बाशम के अनुसार संसार में सर्वप्रथम गंगा की घाटी के निषादों ने ही भैंस को पालतू बनाया।

श्री विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय ने अपने एक संस्मरणपरक उपन्यास 'आरण्यक' में बताया है कि कुछ आदिवासियों के अंदर, जिनका संबंध 'आस्ट्रिकों'-निषादों से जोड़ा जा सकता है, 'टांडवारो' नामक एक अपदेवता की काष्ठ मूर्त्तियाँ स्थापित करने की प्रथा है। ये जंगली भैंसों के देवता हैं। महिष बलि, महिषमर्दिनी दुर्गा की पूजा, शीतला की पूजा अपने आदि रूप में निषाद संस्कृति से प्रारंभ होती है। देह पर विवाह के अवसर पर हल्दी लगाना आर्यों में भी प्रचलित था। पर यह उन्होंने जलजीवी जाति निषादों से सीखा होगा। देह पर हल्दी मलकर जल में कूदने पर हल्दी की गंध से घड़ियाल-मगर आदि पास नहीं फटक सकते। संभवतः सिंदूर का प्रयोग भी आदिम निषादों ने ही प्रारंभ किया था।

बात कर रहा था रामदेवाजी की और बहककर चला गया गुहा-हटन-चटर्जी आदि का हरा-भरा खेत चरने। तो भी जो कुछ मैंने इधर-उधर की बातें कहीं हैं वे हँसुए के ब्याह में खुरपी का गीत निश्चय ही नहीं। बूँद में समुद्र का आहवान और गुणधर्म भरा होता है। रामदेवाजी की ऊल-जलूल बातों और आधुनिक नृतत्त्वशास्त्र भाषाविज्ञान की ऊहा की बीच यही बूँद और समुद्र का संबंध है। रामदेवाजी का टोना-टोटका और भूत-डामर विशुद्ध निषाद-प्रतिभा की उपज है। और इसकी परंपरा पाँच हजार वर्ष पुरानी है एवं रामदेवाजी के शब्दों में व्यतीत पाँच हजार वर्षों के संस्कार मूर्त होते हैं। (स्मरण रहे कि 'टोना', 'टोटका' तथा अँगरेजी के 'टोटेम', 'ताबू' आदि शब्दों का मूल उत्स भी निषाद या आस्ट्रिक है) ये निषाद संस्कार हम सबकी शिरा-धमनी में हमारे षड्रिपुओं के साथ-साथ सहअस्तित्त्व बनाकर सक्रिय हैं।

रामदेवाजी अपनी अजीब 'अड़बी-तड़बी' बोली में जो कुछ कहते हैं उसका आधा ही मैं समझ पाता हूँ, पर जो समझता हूँ वह अपूर्व लगता है। वे

कहते हैं, 'एक अनदेखा चन्द्रमंडल है आकाश केंद्र में। उसमें 'मृगा' है। 'मृगा' पर सवार है देवी और देवी पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण चारों ओर मुट्ठी-मुट्ठी बीज प्रतिक्षण फेंक रही है - न केवल गाछ-पात, लता-तरु के बीज बल्कि आदमी, जानवर, पंख-पखेरू सबके बीज। ये बीज चारों दिशाओं में चौदहों भुवन में निरंतर बिखरते रहते हैं और रूप लेते रहते हैं। देवी के नयनों से सात रंग बरसते रहते हैं। उसकी नजर से ही ये सारे रूप अपना-अपना रंग लेते हैं, रंग बदलते हैं, रंग उड़ते हैं और निरंग हो जाते हैं।श' रामदेवाजी आविष्ट की तरह अर्धनिमीलित चक्षु होकर यह सब कहते जाते हैं और तब अचानक आलू जैसी बड़ी-बड़ी लाल आँखें खोलकर मेरी ओर ताकते हैं और वर्णन पूरा करते हैं। 'देवी की दायीं आँख रंग-बिरंग नजरें मारती हैं, सृष्टि को रंग प्रदान करती है। देवी की बायीं आँख उन रंगों का भक्षण करती है। और देवों की तीसरी आँख ललाट में स्थित है, जो सूर्य के रथ का नियंत्रण करती है। दिन-रात का आना-जाना उसी आँख के इशारे पर होता है। मौसम उसी आँख की भंगिमा देखकर बदलते हैं... हम-तुम, ये चिड़िया-चुरुंग, पशु-प्राणी सभी उसी चंद्रमंडल से बिखरे बीजों के लता-पता हैं।श' और इस प्रकार का कथन समाप्त करते हुए रामदेवाजी अपना मस्तक श्रद्धा से झुका लेते हैं।

चंद्रमंडल के इस महत्त्व की वार्ता सुनकर मुझे बहुत-सी बातें स्मरण हो आती हैं, जिन्हें मैंने डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के एक निबंध में पढ़ा था। वर्तमान युग में पोलीनीशिया में आस्ट्रिक या निषाद पंचांग अब भी चालू है और उनकी तिथि गणना चंद्रमा पर आधारित है। सृष्टि और काल का मूल उत्स है चंद्रमंडल, ऐसा पुराने निषादों (आस्ट्रिकों) का विश्वास था। वे चंद्रमा की कलाओं के आधार पर तिथि-गणना करते थे। आश्चर्य है कि सुदूर पोलीनीशिया में चालू पंचांग में पूर्ण चंद्र और नष्ट चंद्र तिथियों के लिए जो शब्द आते हैं वे हैं 'राका' और 'कुहू'। इससे सिद्ध होता है कि 'राका' और 'कुहू' निषाद भाषा के शब्द हैं। आर्यों ने निषाद संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में इन्हें अपनी भाषा में दाखिल कर लिया। हमारे ज्योतिष शास्त्र में 'मातृका' नक्षत्र मंडल है, जिसे पोलीनिशियन पंचांग में अब भी 'मातरिकी' कहते हैं। चाटुर्ज्या महाशय की यह सूचना रामदेवाजी की 'अड़बी-तड़बी' रहस्यवाणी के संदर्भ में मेरे लिए और अर्थवान हो उठती है।

आर्य लोग चंद्रमा को औषधियों का स्वामी मानते हैं। मुझे लगता है यह विश्वास निषादों से अनुप्रेरित है। इस देश की जड़ी-बूटियों, घास-पात, पेड़-पौधों

के पहले जानकार तो निषाद ही थे, कृषि कर्म के प्रथम नायक भी निषाद ही थे। ऐसी अवस्था में औषधियों का संबंध चंद्रमा के साथ पहले-पहल उन्हीं की कल्पना द्वारा जोड़ा गया होगा। औषधियों से आरोग्य होता है, अतः उनमें अमृत का अंश है। सोम या चंद्रमा औषधियों का राजा है, या 'अनदेखे चंद्रमंडल' में औषधियों का बीज है, अतः सोमकला या चंद्रमा में भी अमृत है। यह कल्पना संभवतः निषादों ने की होगी। उनके मन में प्रश्न आया होगा – यह चंद्रमा आया कहाँ से? समुद्र से। अतः समुद्र-मंथन करके अमृत-कुंभ और उसका सहोदर अमृत कलावाला चंद्रमंडल का निकाला जाना उन्होंने ही पहले-पहल कल्पित किया होगा। अमृत-मंथन की मिथक भारतीय आर्यकुल में ही प्रचलित है, नार्डिक या ग्रीक घराने में नहीं। अतः यह समुद्र मंथन का 'मिथक' शुद्ध देसी प्रतिभा, संभवतः निषाद-प्रतिभा की उपज है। चंद्रमा का पिता समुद्र है, तो समुद्र के नीचे क्या है? निषाद-कल्पना ने उत्तर दिया होगा, समुद्र के नीचे पाताल है जहाँ पर भी एक अमृतकुंभ है, जहाँ मणियाँ हैं, जहाँ अतुलित बलशाली नाग हैं, जो इन दोनों अलभ्य वस्तुओं की रक्षा करते हैं। क्योंकि उन्हें छोड़कर धरती के भीतर गहरी बामी में और कोई जीव नहीं रहता। इस प्रकार कल्पना-दर-कल्पना चलती रही और सबका उत्स रहा निषादों का चंद्र-प्रेम। आर्य ऊषा और आदित्य के उपासक थे। सोम नामक जड़ी का पान करके वे क्षणिक देवत्व का आवेश भोग कर लेते थे। निषादों के संसर्ग में आकर उन्होंने 'सोम' का संबंध चंद्रमंडल से जोड़ा और सोम का अर्थ हुआ चंद्र।

ग्रीक महाकाव्यों का 'नेक्टार' और आर्यों का 'सोमरस' केवल देवोपम निश्चिंतता और आनंदयुक्त मत्तता देते हैं। पर अमृत की कल्पना कुछ और ही है। अमृत की कल्पना में औषधि तत्त्व का संकेत है क्योंकि वह अमृत रस हमें जरा-मरण से ऊपर और परे ले जाता है, रोग और मृत्यु के पाश से हमें मुक्त कर सकता है। किसी औषधिधर्मी रस के द्वारा जरा-मरण के ऊपर विजय एक निराली कल्पना है और ऐसी कल्पना करने वाली जाति के मन में ही अमृत मंथन की कल्पना और अमृत कुंभ से युक्त पातालपुरी की कल्पना – जो मात्र भोगलोक है जिसकी राजधानी ही भोगावती है – प्रथम-प्रथम आयी होगी। बाद में द्रविड़ों ने, जो भावुकता प्रधान, 'कवित्वपूर्ण, रईसतबीयत, मणि-माणिक-लोभी, नगर रचने वाली और व्यापार करने वाली जाति थी – इस कल्पना को विकसित किया होगा और उन्होंने कल्पित किया होगा कि समुद्र-मंथन के साथ न केवल अमृत बल्कि तरह-तरह के अलभ्य रत्न भी निकले थे और पाताल लोक न

केवल अमृत कुंभ का लोक है बल्कि 'भोगी' जाति का चरम भोगलोक है, जहाँ मणि-माणिक माथे पर धारण करे रईसतबीयत नाग कुल अमृत पान करता है और सुख भोगता है और तब आर्यों का चिंताशील दार्शनिक मन आया होगा। और उसने इस समुद्र मंथन की पूर्व पीठिका में देवासुर संग्राम के रूप में शिव और अशिव के द्वंद्व तथा आर्य और अनार्य द्वंद्व के दार्शनिक और राजनैतिक तत्त्व को इस मिथ से संयुक्त कर दिया होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि आज की भारतीयता का पिता है आर्य, पितामह है द्रविड़ और प्रपितामह है निषाद। अवश्य ही पूर्वी भारत में एक चौथा तत्त्व भी सक्रिय रहा है, जो आर्य पिता का समकालीन है और वह है 'किरात' अर्थात 'इंडो-मंगालीय' तत्त्व, जो लद्दाख से अरुणाचल (नेफा) तक की पतली हिमालय की पट्टी और समूचे ब्रह्मपुत्र क्षेत्र (असम और बंगाल तथा बाँगला देश) के इतिहास में प्राधान्य लाभ किये हुए है। परंतु इस समय हम उत्तर भारत अर्थात ठेठ हिंदुस्तान की ही चर्चा कर रहे हैं, जिसका पिता है आर्य, पितामह है द्रविड़ और प्रपितामह है निषाद।

सुनीति बाबू लिखते हैं और रामदेवाजी तथा उनके चंदर-मंदर जैसे शिष्यगण इसे करके दिखाते हैं कि निषाद मन एक ओर तो बड़ा परिश्रमी तथा धीर मन रहा है, दूसरी ओर वह खुशमिजाज, बेपरवाह, मनमौजी, सदैव 'अरे, वाह वाह' गीत गुंजरित, नृत्यकंपित और कभी-कभी उन्मत्त-प्रमत्त भी रहने का आदी है। इसका रसवाद प्रायः मुक्त हास्य और आदिरस से संयुक्त रहा है और इसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है 'होली' त्योहार के अंदर, जिसे अब भी कुछ लोग चतुर्थ वर्ण का त्योहार कहते हैं। उस दिन चांडाल-स्पर्श पुण्य माना जाता है। ऐसा मानसिक भावात्मक खुलापन वाला त्योहार, निषाद संस्कारों की ही उपज है।

मैं समझता हूँ चार्वाक ऋषि की उनके जीवन काल में निषादों के बीच बड़ी इज्जत रही होगी क्योंकि उनका 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' दर्शन निषादों के मनमौजी स्वभाव के समानांतर है। आज भी मतसा गाँव के निषाद एक दिन का खाना भी घर पर मौजूद हो तो बैठकर ताश खेलेंगे। तेल में मछली कल्हारी जाएगी और अड्डाबाजी होगी। उस समय रायजी, मिसिर जी, वर्माजी, जा-जाकर इनकी देहरी पर शीश पटकेंगे कि चल भाई, मेरा मकान गिर रहा है, मेरी छत चू रही है, या मेरी फसल खेत में झड़ रही है, परंतु सब व्यर्थ! क्योंकि आदिम निषाद इनके मन में जाग उठा है और ये नहीं सुनेंगे। ये ही क्यों, रायजी, मिसिरजी, वर्माजी भी इस निषाद से परित्यक्त नहीं। उनकी देह में यह हो या

न हो, पर उनके मन का चालीस प्रतिशत इसकी राजधानी है। यह आदिम निषाद उनके संस्कारों में जब प्रबल और उन्मत्त हो उठता है तो ये भी दो बीघा बेचकर होली-दीवाली के दिन 'चमर नट' या नर्तकी का नाच कराते हैं, दावतें देते हैं और स्वयं भी छानते-फूँकते-पीते हैं।

मेरे मन की गहन गुहा में कहीं पर बैठा हुआ यह आदिम निषाद मुझे भी छात्र जीवन में बड़ा तंग करता था। मुझे स्मरण है कि एक ग्रीष्मावकाश के बाद बनारस कैंट स्टेशन पर उतरकर अपने सहपाठी जयमल राय के साथ मैंने प्रतिज्ञा की कि इस वर्ष हम दोनों सिनेमा देखेंगे ही नहीं। पर ज्यों ही हमारा रिक्शा कैंट स्टेशन से आगे बढ़ा और एक-से-एक बढ़िया चलचित्रों के सम्मोहक पोस्टर आने लगे, हमारी प्रतिज्ञा ढीली होने लगी, आदिम निषाद हमारे मन का मंथन करने लगा और अंत में 'प्रकाश टॉकीज' तक आते-आते हमारे विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया और जयमल को मैंने वहीं पर उतार दिया और कहा, श्यार, तू लाइन लगा, मैं सामान रखकर अभी आया।' आज मैं वयस की प्रौढ़ता के कारण कर्तव्यपरायण हो गया हूँ, परंतु अब भी छुट्टी के दिनों में अरण्यवीथी, या नदी तट पर निकल जाता हूँ तो अकेले में मेरी आत्मा में निरंतर वर्तमान आदिम निषाद मेरी शिरा-धमनियों में प्रवेश करके अविराम नौका-क्रीड़ा करने लगता है और मेरे मन में बज रही उसकी अविराम बाँसुरी के अस्तित्त्व के प्रति सचेत हो जाता हूँ।

उत्तराफाल्गुनी के आसपास

वर्षा ऋतु की अंतिम नक्षत्र है उत्तराफाल्गुनी। हमारे जीवन में गदह-पचीसी सावन-मनभावन है, बड़ी मौज रहती है, परंतु सत्ताइसवें के आते-आते घनघोर भाद्रपद के अशनि-संकेत मिलने लगते हैं और तीसी के वर्षों में हम विद्युन्मय भाद्रपद के काम, क्रोध और मोह का तमिस्त्र सुख भोगते हैं। इसी काल में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हमारी सिसृक्षा कृतार्थ होती है। फिर चालीसवें लगते-लगते हम भाद्रपद की अंतिम नक्षत्र उत्तराफाल्गुनी में प्रवेश कर जाते हैं और दो-चार वर्ष बाद अर्थात उत्तराफाल्गुनी के अंतिम चरण में जरा और जीर्णता की आगमनी का समाचार काल-तुरंग दूर से ही हिनहिनाकर दे जाता है। वास्तव में सृजन-संपृक्त, सावधान, सतर्क, सचेत और कर्मठ जीवन जो हम जीते हैं वह है तीस और चालीस के बीच। फिर चालीस से पैंतालीस तक उत्तराफाल्गुनी का काल है। इसके अंदर पग-निक्षेप करते ही शरीर की षटऊर्मियों में थकावट आने

लगती है, 'अस्ति, जायते, वर्धते' – ये तीन धीरे-धीरे शांत होने लगती हैं, उनका वेग कम होने लगता है और इनके विपरीत तीन 'विपतरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' प्रबलतर हो उठती हैं, उन्हें प्रदोष-बल मिल जाता है, वे शरीर में बैठे रिपुओं के साथ साँठ-गाँठ कर लेती हैं और फल होता है, जरा के आगमन का अनुभव। पैंतालीस के बाद ही शीश पर काश फूटना शुरू हो जाता है, वातावरण में लोमड़ी बोलने लगती है, शुक और सारिका उदास हो जाते हैं, मयूर अपने शृंगार-कलाप का त्याग कर देता है और मानस की उत्पलवर्णा मारकन्याएँ चोवा-चंदन और चित्रसारी त्याग कर प्रव्रज्या का बल्कल-वसन धारण कर लेती हैं। अतः बचपन भले निर्मल-प्रसन्न हो, गदहपचीसी भले ही 'मधु-मधुनी-मधूनि' होय परंतु जीवन का वह भाग, जिस पर हमारे जन्म लेने की सार्थकता निर्भर है, पच्चीस और चालीस या ठेल-ठालकर पैंतालीस के बीच पड़ता है। इसके पूर्व हमारे जीवन की भूमिका या तैयारी का काल है और इसके बाद 'फलागम' या 'निमीसिस' की प्रतीक्षा है। जो हमारे हाथ में था, जिसे करने के लिए हम जनमे थे, वह वस्तुतः घटित होता है पच्चीस और पैंतालीस के बीच। इसके बाद तो मन और बुद्धि के वानप्रस्थ लेने का काल है – देह भले ही 'एकमधु-दोमधु-असंख्य-मधु' साठ वर्ष तक भोगती चले। इस पच्चीस-पैंतालीस की अवधि में भी असल हीर रचती है तीसोत्तरी। तीसोत्तरी के वर्षों का स्वभाव शाण पर चढ़ी तलवार की तरह है, वर्ष-प्रतिवर्ष उन पर नई धार, नया तेज चढ़ता जाता है चालीसवें वर्ष तक। मुझे क्रोध आता है उन लोगों पर जो विधाता ब्रह्मा को बूढ़ा कहते हैं और चित्र में तथा प्रतिमा में उन्हें वयोवृद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं। मैंने दक्षिण भारत के एक मंदिर में एक बार ब्रह्मा की एक अत्यंत सुंदर तीसोत्तर युवा-मूर्ति को देखा था। देखकर ही मैं कलाकार की औचित्य-मीमांसा पर मुग्ध हो गया। जो सर्जक है, जो सृष्टिकर्त्ता है, वह निश्चय ही चिरयुवा होगा। प्राचीन या बहुकालीन का अर्थ जर्जर या बूढ़ा नहीं होता है। जो सर्जक है, पिता है, 'प्रॉफेट' है, नई लीक का जनक है, प्रजाता है, वह रूप-माधव या रोमैंटिक काम-किशोर भले ही न हो, परंतु वह दाँत-क्षरा, बाल-झरा, गलितम् पलितम् मुंडम् कैसे हो सकता है? उसे तो अनुभवी पुंगव तीसोत्तर युवा के रूप में ही स्वीकारना होगा। जवानी एक चमाचम धारदार खड्ग है। उस पर चढ़कर असिधाराव्रत या वीराचार करनेवाली प्रतिभा ही पावक-दग्ध होंठों से देवताओं की भाषा बोल पाती है। युवा अंग के पोर-पोर में फासफोरस जलता है और युवा-मन में उस फासफोरस का रूपांतर हजार-हजार सूर्यों के सम्मिलित पावक

में हो जाता है। मेरी समझ से सृष्टिकर्त्ता की, कवि की, विप्लव नायक की, सेनापति की, शूरवीर की, विद्रोही की कल्पना श्वेतकेश वृद्ध के रूप में नहीं की जा सकती। अतः प्रजापति विधाता को सदैव तीस वर्ष के पट्ठे सुंदर, युवा के सुंदर रूप में ही कल्पित करना समीचीन है।

वास्तव में तीसवाँ वर्ष जीवन के सम्मुख फण उठाए एक प्रश्न-चिह्न को उपस्थित करता है और उस प्रश्न-चिह्न को पूरा-पूरा उसका समाधान-मूल्य हमें चुकाना ही पड़ता है। किसी भी पुरुष या नारी की कीर्ति-गरिमा, इसी प्रश्न-चिह्न की गुरुता और लघुता पर निर्भर करती है। गौतम बुद्ध ने उनतीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर अमृत के लिए महाभिनिष्क्रमण किया। यीशु क्राइस्ट ने तीस वर्ष की अवस्था में अपना प्रथम संदेश 'सरमन ऑन दी माउंट' (गिरिशिखिर-प्रजनन) दिया था और तैंतीसवें वर्ष में उन्हें सलीब पर चढ़ा दिया गया। उनका समूचा उपदेश काल तीन वर्ष से भी कम रहा। वाल्मीकि के अनुसार रामचंद्र को भी तीस के आसपास ही (वास्तव में 27 वर्ष की वयस में) वनवास हुआ था। उस समय सीता की आयु अठारह वर्ष की थी और वनवास के तेरहवें वर्ष में अर्थात सीता के तीसवाँ पार करते-करते ही सीताहरण की ट्रेजेडी घटित हुई थी। अतः तीसवाँ वर्ष सदैव वरण के महामुहूर्त्त के रूप में आता है और संपूर्ण दशक उस वरण और तेज के दाह से अविष्ट रहता है। तीसोत्तर दशक जीवन का घनघोर कुरुक्षेत्र है। यह काल गदहपचीसी के विपरीत एक क्षुरधार काल है, जिस पर चढ़कर पुरुष या नारी अपने को अविष्कृत करते हैं, अपने मर्म और धर्म के प्रति अपने को सत्य करते हैं तथा अपनी अस्तित्त्वगत महिमा उद्घाटित करते हैं अथवा कम-से-कम ऐसा करने का अवसर तो अवश्य पाते हैं। चालीसा लगने के बाद पैंतालीस तक 'यथास्थिति' की उत्तराफाल्गुनी चलती है। पर इसमें ही जीवन की प्रतिकूल और अनुकूल उर्मियाँ परस्पर के संतुलित को खोना प्रारंभ कर देती हैं और प्राणशक्ति अवरोहण की ओर उन्मुख हो जाती है। इसके बाद अनुकूल उर्मियाँ स्पष्टतः थकहर होने लगती हैं और प्रतिकूल उर्मियाँ प्रबल होकर देह की गाँठ-गाँठ में बैठे रिपुओं से मेल कर बैठती हैं, मन हारने लगता है, सृष्टि अनाकर्षक और रति प्रतिकूल लगने लगती है, बुद्धि का तेज घट जाता है और वह स्वीकारपंथी (कनफर्मिस्ट) होने लगती है एवं आत्मा की दाहक तेजीमयी शक्ति पर विकार का धूम्र छाने लगता है। मैं तो यहाँ पर पैंतालीसवें वर्ष की बात कर रहा हूँ। परंतु मुझे स्मरण आती है दोस्तीव्हस्की - जिसने चालीस के बाद ही जीवन को धिक्कार दे दिया था-'मैं चालीस वर्ष जी चुका। चालीस वर्ष ही

तो असली जीवन-काल है। तुम जानते हो कि चालीसवाँ माने चरम बुढ़ापा। दरअसल चालीस से ज्यादा जीना असभ्यता है, अश्लीलता है, अनैतिकता है। भला चालीस से आगे कौन जीता है? मूर्ख लोग और व्यर्थ लोग' ('नोट्स फ्रॉम अंडर ग्राउंड' से) दोस्तोव्हस्की की इस उक्ति का यदि शाब्दिक अर्थ न लिया जाय तो मेरी समझ से इसका यही अर्थ होगा कि चालीस वर्ष के बाद जीवन के सहज लक्षणों का, परिवर्तन-परिवर्धन-सृजन का आत्मिक और मानसिक स्तरों पर हास होने लगता है। पर मैं 'साठा तब पाठा' की उक्तिवाली गंगा की कछार का निवासी हूँ, इसी से इस अवधि को पाँच वर्ष और आगे बढ़ाकर देखता हूँ, यद्यपि दोस्तोव्हस्की की मूल थीसिस मुझे सही लगती है। शक्तिक्षय की प्रक्रिया चालीस के बाद ही प्रारंभ हो जाती है, यद्यपि वह अस्पष्ट रहती है।

मैं इस समय 1972 ईस्वी अपना अड़तीसवाँ पावस झेल रहा हूँ। पूर्वाफाल्गुनी का विकारग्रस्त यौवन जल पी-पीकर मैं 'क्षिप्त' से भी आगे एक पग 'विक्षिप्त' हो चुका हूँ और शीघ्र ही मोहमूढ़ होनेवाला हूँ! भाद्र की पहली नक्षत्र है मघा। मघा में अगाध जल है। पृथ्वी की तृषा आश्लेषा और मघा के जल से ही तृप्त होती है। यदि मघा में धरती की प्यास नहीं बुझी तो उसे अगले संवत्सर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। न केवल परिमाण में, बल्कि गुण में भी मघा का जल श्रेष्ठ है। मघा-मेष की झड़ी झकोर का स्तव-गान कवि और किसान दोनो खूब करते हैं—श्बरसै मघा झकोरि-झकोरी। मोर दुइ नैन चुवै जस ओरी।' मघा बरसी, मानो दूध बरसा, मधु बरसा। इस मघा के बाद आती है पूर्वाफाल्गुनी जो बड़ी ही रद्दी-कंडम नक्षत्र है। इसका पानी फसल जायदाद के लिए हानिकारक तो है ही, उत्तर भारत में बाढ़-वर्षा का भय भी सर्वाधिक इसी नक्षत्र-काल में रहता है। इसी से उत्तर भारतीय गंगातीरी किसान इसे एक कीर्तिनाशा-कर्मनाशा नक्षत्र मानते हैं। इसके बाद आती है उत्तराफाल्गुनी, भाद्रपद की अंतिम नक्षत्र, जो समूचे पावस में मघा के बाद दूसरी उत्तम नक्षत्र है। इसका पानी स्वास्थ्यप्रद और सौभाग्यकारक होता है। इस अड़तीसवें पावस में अपने जीवन का पूर्वाफाल्गुनी काल भोग रहा हूँ, यद्यपि साथ-ही साथ द्वार पर उत्तराफाल्गुनी का आगमन भी देख रहा हूँ। चालीस आने में अब कितनी देर ही है।

अतः आज पूर्वाफाल्गुनी का अंतिम पानपात्र मेरे होंठों से संलग्न है। क्रोध मेरी खुराक है, लोभ मेरा नयन-अंजन है और काम-भुजंग मेरा क्रीड़ा-सहचर है। इनको ही मैं क्रमशः विद्रोह, प्रगति और नवलेखन कहकर पुकारता हूँ। भले ही

यह विकार-जल हो, भले ही इसमें श्रेय-प्रेय, गति-मुक्ति कुछ भी न हो। परंतु इसमें जीर्णता और जर्जरता नहीं। यह जरा और वृद्धत्व का प्रतीक नहीं। पूर्वाफाल्गुनी द्वारा प्रदत्त विक्षिप्तता भी यौवन का ही एक अनुभव है। मुझे लग रहा था कि मेरे भीतर कोई उपंग बजा रहा है क्योंकि मेरे सम्मुख द्वार पर काल-नट्टिन अर्थात् उत्तराफाल्गुनी त्रिभंग रूप में खड़ी है और मैं उसमें मार की तीन कन्याओं तृषा-रति-आर्त्ति को एक साथ देख रहा हूँ। कांचनपद्म कांति, कर-पल्लव, कुणितकेश, बिंबाधर, विशाल बंकिम भ्रू, दक्षिणावर्त नाभि, और त्रिवली रेखा से युक्त इस भुवन-मोहन रूप को मैं देख रहा हूँ और इसको आगमनी में अपने भीतर बजती उपंग को निरंतर सुन रहा हूँ। उपंग एक विचित्र बाजा है। काल-पुरुषों की उँगलियाँ चटाक-चटाक पड़ती है और आहत नाद का छंदोबद्ध रूप निकलता है बीच-बीच में हिचकी के साथ। यह हिचकी भी उसी काल-विदूषक की भँड़ैती है और यह उपंग के तालबद्ध स्वर को अधिक सजीव और मार्मिक कर देती है। मैं अपने भीतर बजते यौवन का यह उपंग-संगीत सुन रहा हूँ और अपने मनोविकारों का छककर पान कर रहा हूँ। मुझे कोई चिंता नहीं। अभी वानप्रस्थ का शरद काल आने में काफी देर है। इस क्षण उसकी क्या चिंता करूँ? इस क्षण तो बस मौज ही मौज है, भले ही वह कटुतिक्त मौज क्यों न होय काम भुजंग के डँसने पर तो नीम भी मीठी लगती है। अतः यह काल-नटी, यह पूर्वाफाल्गुनी या उत्तराफाल्गुनी, यह 'नैनाजोगिन' कितनी भी भ्रान्ति, माया या मृगजल क्यों न हो, मैं इसके रूप में आबद्ध हूँ। इसमें मुझे वही स्वाद आ रहा है, जो मायापति भगवान को अपनी माया के काम मधु का स्वाद लेते समय प्राप्त होता है और जिस स्वाद को लेने के लिए वे परमपद के भास्वर सिंहासन को छोड़कर हम लोगों के बीच बार-बार आते हैं। अतः इस समय मुझे कोई चिंता, कोई परवाह नहीं।

परंतु एक न एक दिन वह क्षण भी निश्चय ही उपस्थित होगा जिसकी श्रृंगारहीन शरद यवनिका के पीछे जीर्ण हेमंत और मृत्युशीतल शिशिर की प्रेतछाया झलकती रहेगी। 'उस दिन, तुम क्या करोगे? है तुम्हारे पास कोई बीज-मंत्र, कोई टोटका, कोई धारणी-मंत्र जिससे तुम अगले बीस-बाईस वर्षों के लिए इस उत्तराफाल्गुनी के पगों को स्तंभित कर दो और वह अगले बीस-बाईस वर्ष तुम्हारे द्वारदेश पर, शिथिल दक्षिण चरण, ईषत कुंचित जानु के साथ आभंग मुद्रा में नतग्रीव खड़ी रहे और तुम्हारे हुकुम की प्रतीक्षा करती रहे? है कोई ऐसा जीवन-दर्शन, ऐसा सिद्धाचार, ऐसी काया सिद्धि जिससे बाहर-बाहर

शरद-शिशिर, पतझार-हेमंत आएँ और जूझते-हार खाते चले जाएँ। परंतु मनस की द्वार-देहरी पर यह उत्तराफाल्गुनी एक रस साठ वर्ष की आयु तक बनी रहे? है कोई ऐसा उपाय? यह प्रश्न रह-रहकर मैं स्वयं अपने ही से पूछता हूँ। आज से तेरह वर्ष पूर्व भी मैंने इस प्रश्न पर चिंता की थी और उक्त चिंतन से जो समाधान निकला उसे मैंने कार्य-रूप में परिणत कर दिया। परंतु इन तेरह वर्षों में असंख्य भाव-प्रतिभाओं के मुंडपात हुए हैं और आज मैं मूल्यों के कबंध-वन में भाव-प्रतिभाओं के केतु-कांतार में बैठा हूँ। आज जगत वही नहीं रहा जो तेरह वर्ष पूर्व था। एक ग्रीक दार्शनिक की उक्ति है कि एक नदी में हम दुबारा हाथ नहीं डाल सकते, क्योंकि नदी की धार क्षण-प्रतिक्षण और ही और होती जा रही है। काल-प्रवाह भी एक नदी है और इसकी भी कोई बूँद स्थिर नहीं। अतः शताब्दी के आठवें दशक के इस प्रथम चरण में मुझे उसी प्रश्न को पुनः-पुनः सोचना है—कैसे जीर्णता या जरा को, यदि संपूर्णतः जीतना असंभव हो तो भी फाँकी देकर यथासंभव दूरी तक वंचित रखा जाए? कैसे अपने दैहिक यौवन को नहीं, तो मानसिक यौवन को ही निरंतर धारदार और चिरंजीवी रखा जाय? उस दिन तो मैंने सीधा-सीधा उत्तर ढूँढ़ निकाला था—श्ययाति की तरह पुत्रों से यौवन उधार लेकर।' अर्थात मैं कोई नौकरी न करके कॉलेज में अध्यापन करूँ तो मुझ पचपन या साठ वर्ष की आयु तक युवा शिष्य-शिष्याओं के मध्य वास करने का अवसर सुलम होगा। मैं इनकी आशा-आकांक्षा, उत्साह, साहस, उद्यमता आदि से वैसे ही अनुप्राणित और आविष्ट रहूँगा जैसे चुंबकीय आकर्षण-क्षेत्र में पड़कर साधारण लोहा भी चुंबक बन जाता है।

परंतु विगत दशक के अंतिम दो वर्षों में जब मेरे ये बालखिल्य सहचरगण छिन्नमस्ता राजनीति के रँगरूट बनने लगे, जब इन्होंने मेरे गुरुओं, गांधी-विवेकानंद-विद्यासागर-सर आशुतोष, की प्रतिमाओं का एवं उनके द्वारा प्रति-पादित मूल्यों का, अनर्गल मुंडपात करना शुरू कर दिया, जब इनके नए दार्शनिकों ने कहना प्रारंभ किया कि आध्यापक और छात्र के बीच भी श्रेणी-शत्रुओं का संबंध है क्योंकि अध्यापक भी 'स्थापित व्यवस्था' का एक अंग है और 'व्यवस्था' का भंजन ही श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है, तब देश में घटित होती हुई इन घटनाओं पर विचार करके और क्रांति तथा 'नई पीढ़ी' के दार्शनिकों - यथा हिबर्ट मारक्यूज, चेग्वारा, ब्रैंडिटकोहन आदि की चिंतनधारा से यथासंभव अल्प स्वल्पे परिचय पा करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मैं इन अपने भाइयों, अपने हृदय के टुकड़ों के साथ जो आज छिन्नमस्ता राजनीति के रँगरूट हैं, कुछ

ही दूर तक, आधे रास्ते ही जा सकता हूँ। विविध प्रकार के नारों से आक्रांत ये नए 'पुरूरवा' ('पुरूरवा' का शब्दार्थ होता है 'रवों' (आवाजों या नारों) से आक्रांत या पूरित पुरुष। 'ययाति' पुरानी पीढ़ी का प्रतीक है तो पुरूरवा नई पीढ़ी का।) यदि मुझे यौवन उधार देंगे भी तो बदले में मुझे भी कबंध में रूपांतरित होने को कहेंगे। और मैं कैसे अपना चेहरा, अपनी आत्म-सत्ता, अपना व्यक्तित्त्व त्याग दूँ? 'छिन्नमस्त' पुरुष बनकर यौवन लेने से क्या लाभ? बिना मस्तक के बिना अपने निजी नयन-मुख-कान के इस उधार प्राप्त नवयौवन का नया अर्थ होगा? रूप, रस, गंध और गान से वंचित रह जाऊँगा। केवल शिश्नोदरवाला व्यक्तित्त्व लेकर कौन जीवन-यौवन भोगना चाहेगा? कम-से-कम बुद्धिजीवी तो नहीं ही। आत्मार्थ पृथिवी त्यजेत? अतः मुझे चिरयौवन को इन शिष्य-पुरूरवाओं की नई पीढ़ी से दान के रूप में नहीं लेना है। तेरह वर्ष पहले का चिंतित समाधान आज व्यर्थ सिद्ध हो गया है। मुझे अन्यत्र चिरयौवन का अनुसंधान करना है। कहीं-न-कहीं मेरे ही अंदर अमृता कला की गाँठ होगी। उसे ही मुझे आविष्कृत करना होगा। जो बाहर-बाहर अप्राप्य है वह सब-कुछ भीतर-भीतर सुलभ है। मैं अपने ही हृदय समुद्र का मंथन करके प्राण और अमृत के स्रोत किसी चंद्रमा को आविष्कृत करूँगा। तेरह वर्ष पुराना समाधान आज काम नहीं आ सकता।

मैं मानता हूँ कि समाज और शासन में शब्दों के व्यूह के पीछे एक कपट पाला जा रहा है। मैं बालखिल्यों के क्रोध की सार्थकता को स्वीकार करता हूँ। पर साथ ही छिन्नमस्ता शैली के सस्ते रंगांध और आत्मघाती समाधान को भी मैं बेहिचक बिना शील-मुरौवत के अस्वीकार करता हूँ। अपना मस्तक काटकर स्वयं उसी का रक्त पीना तंत्रचार-वीराचार हो सकता है परंतु यह न तो क्रांति है और न समर। पुरानी पीढ़ी का चिरयक्षत्व मुझे भी अच्छा नहीं लगता। मैं भी चाहता हूँ कि वह पीढ़ी अब खिजाब-आरसी का परित्याग करके संन्यास ले ले। शासन और व्यवस्था के पुतली घरों की मशीन-कन्याएँ उनकी बूढ़ी उँगलियों के सूत्र-संचालन से ऊब गई हैं और उनकी गति में रह-रह कर छंद-पतन हो रहा है। यह बिल्कुल न्याय-संगत प्रस्ताव है कि पूर्व पीढ़ी अपनी मनुस्मृति और कौपीन बगल में दबाकर पुतलीघर से बाहर हो जाय और नई पीढ़ी को, अर्थात हमें और हमारे बालखिल्यों को अपने भविष्य के यश-अपयश का पट स्वयं बुनने का अवसर दे जिससे वे भी अपने कल्पित नक्शे, अपने अर्जित हुनर को इस कीर्तिपट पर काढ़ने का अवसर पा सकें। यह सब सही है। परंतु क्या इन सब बातों की संपूर्ण सिद्धि के लिए इस पुतलीघर का ही अग्निदाह, पुरानी पीढ़ी द्वारा

बुने कीर्तिपट के विस्तार का दाह, उनके श्रम फल का तिरस्कार आदि आवश्यक हैं? क्या ऐसा सब करना एक आत्मघाती प्रक्रिया नहीं? इस स्थल पर डॉ. राधाकृष्णन या आचार्य विनोबा भावे की राय को उद्धृत करूँ तो वह क्रांति के इन 'दुग्ध कुमारों' के लिए कौड़ी की तीन ही होगी। अत: मैं लेनिन जैसे महान क्रांतिकारी की राय उद्धृत कर रहा हूँ! 1922 ई. मैं लेनिन ने लिखा था, 'उस सारी सभ्यता-संस्कृति को जो पूँजीवाद निर्मित कर गया है, हमें स्वीकार करना होगा। और उसके द्वारा ही समाजवाद गढ़ना होगा। पूर्व पीढ़ी के सारे ज्ञान, सारे विज्ञान, सारी यांत्रिकी को स्वीकृत कर लेना होगा। उसकी सारी कला को स्वीकार कर लेना होगा... हम सर्वहारा संस्कृति के निर्माण की समस्या तब तक हल नहीं कर सकते जब तक यह बात साफ-साफ न समझ लें कि मनुष्य जाति के सारे विकास और संपूर्ण सांस्कृतिक ज्ञान को आहरण किए बिना यह संभव नहीं, और उसे समझ कर सर्वहारा संस्कृति की पुनर्रचना करने में हम सफल हो सकेंगे। 'सर्वहारा संस्कृति' अज्ञात शून्य से उपजनेवाली चीज नहीं और न यह उन लोगों के द्वारा गढ़ी ही जा सकती है, जो सर्वहारा संस्कृति के विशेषज्ञ विद्वान कहे जाते हैं ये सब बातें मूर्खतापूर्ण है। इनका कोई अर्थ नहीं होता। 'सर्वहारा संस्कृति' उसी ज्ञान का स्वाभाविक सहज विकास होगी जिसे पूँजीवादी, सामंतवादी और अमलातांत्रिक व्यवस्थाओं के जुए के नीचे हमारी संपूर्ण जाति ने विकसित किया है।' यह बात स्वामी दयाननंद या पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी की होती तो बड़ी आसानी से कह सकते 'मारो गोली! सब बूर्ज्वा बकवास है।श्य पर कहता है क्रांतिकारियों का पितामह लेनिन, जिसे एक कट्टर बंगाली मार्क्सवादी नीरेंद्रनाथ राय ने अपनी पुस्तक 'शेक्सपियर-हिज ऑडिएंस' के पृष्ठ (49-50) पर उद्धृत किया है। आज प्राय: लोग पुकारकर कहते हैं–श्देखो, देखो जोखिम उठा रहा हूँ, मूल्य भंजन कर रहा हूँ। अरे बंधु, जोखिम उठा रहे हो या नाम कमा रहे हो? यह तो आज अपने को प्रतिष्ठित बनाने और जाग्रत सिद्ध करने का सबसे सटीक तरीका 'शॉर्टकट' यानी तिरछा रास्ता है। जोखिम तुम नहीं उठा रहे हो तुम तो धार के साथ बह रहे हो और यह बड़ी आसान बात है। आज जोखिम वह उठा रहा है, जो नदी की वर्तमान धारा के प्रतिकूल, धार के हुकुम को स्वीकारते हुए कह रहा है–श्मूल्य भी क्या तोड़ने की चीज है, जो तोड़ोगे? वह बदला जा सकता है तोड़ा नहीं जा सकता। मूल्य स्थिर या सनातन नहीं होता, यह भी मान लेता हूँ। परंतु एक अविच्छिन्न मूल्य-प्रवाह, एक सनातन मूल्य-परंपरा का अस्तित्त्व तो मानना ही होगा।' नए बालखिल्य दार्शनिक कहेंगे

– 'यह धार के विपरीत जाना हुआ। यह तो प्रतिक्रियावाद है।' ऐसी अवस्था में मेरा उन्हें उत्तर है–श्कभी–कभी नदी की धार पथभ्रष्ट भी हो जाती है। वह सदैव प्रगति की दिशा में ही नहीं बहती। वह स्वभाव से अधोगति की ओर जानेवाली होती है। और आज? आज तो वन्याकाल है। वन्याकाल में धार पथभ्रष्ट रहती है। वह कर्मनाशा–कीर्तिनाशा–कालमुखी बनकर हमारे गाँव को रसातल में पहुँचाने आ रही है। अत: इस क्षण हमारी प्यारी नदी ही शत्रुरूपा हो गई है। और यदि गाँव को बचाना है तो हम धार के प्रतिकूल समर करेंगे। यदि हम अपना घर–द्वार फूँककर तमाशा देखकर मौज लेनेवाले आत्मभोगी 'नीरो' की संतानें नहीं है तों हमें इस नदी से समर करना ही होगा। यही हमारी जिजीविषा की माँग है। और इसके प्रतिकूल जो कुछ कहा जा रहा है, वह 'नई पीढ़ी' की बात हो या पुरानी की, मुमुक्षा का मुक्ति भोग है। यह सब विद्रोह नहीं बूर्ज्वा डेथविश का नया रूप है।श

अत: मैं धार के साथ न बहकर अकेले–अकेले अपने अंदर की अमृता कला का अविष्कार करने को कृत संकल्प हूँ। बिना रोध के, बिना तट के जो धार है वह कालमुखी वन्या है, रोधवती और तटिनी नहीं। यों यह तो मैं मानता ही हूँ कि सर्जक या रचनाकार के लिए 'नॉनकनफर्मिस्ट' होना जरूरी है। इसके बिना उसकी सिसृक्षा प्राणवती नहीं हो पाती और नई लीक नहीं खोज पाती। अत: मुझे भी विद्रोही दर्शनों से अपने को किसी न किसी रूप में आजीवन संयुक्त रखना ही है। एक लेखक होने के नाते यही मेरी नियति है, और इस तथ्य को अस्वीकृत करने का अर्थ है अपनी सिसृक्षा की सारी संभावनाओं का अवरोध। परंतु लेखक, कवि या किसी भी साहित्येतर क्षेत्र के सर्जक या विधाता को यह बात भी गाँठ में बाँध लेनी चाहिए कि शत–प्रतिशत अस्वीकार या 'नॉनकनफर्मिज्म' से भी रचना या सृजन असंभव हो जाता है। पुराने के अस्वीकार से ही नए का आविष्कार संभव है। यह कुछ हद तक ठीक है। परंतु नए भावों या विचारों के 'उद्‌गम' के बाद 'उपकरण' या अभिव्यक्ति के साधन का प्रश्न उठता है और इसके लिए 'नॉनकनफर्मिज्म' को त्यागकर पचहत्तर प्रतिशत पुराने उपकरणों में से ही निर्वाचित–संशोधित करके कुछ को स्वीकार कर लेना होता है। रचना की 'आइडिया' के आविष्कार के लिए तो अवश्य 'विद्रोही मन' चाहिए। परंतु रचना का कार्य (प्रॉसेस) आइडिया के आविष्कार के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। रचना–प्रक्रिया में 'स्वीकारवादी मन' की भी उतनी ही आवश्यकता है। अन्यथा 'आइडिया' या ज्ञान का 'क्रिया' में रूपांतर संभव नहीं। अत: प्रत्येक सर्जक या

विधाता, जीवन के चाहे जिस क्षेत्र की बात हो, 'विद्रोही' और 'स्वीकारवादी' दोनों साथ ही साथ होता है। 'शत-प्रतिशत अस्वीकार' के फैशनेबुल दर्शन के प्रति मेरा आक्षेप यह भी है कि यह एक स्वयं आरोपित 'नो एक्जिट' (द्वारा या वातायन रहित अवरुद्ध कक्ष) है, इसको लेकर बहुत आगे तक नहीं जाया जा सकता है। यह दर्शन विषय और विधा दोनों की नकारात्मक सीमा बाँधकर बैठा है। और इसके द्वारा अपने 'स्व' को भी पूरा-पूरा नहीं पहचाना जा सकता है, तो 'स्व' से बाहर, इतिहास और समाज को समझने की तो बात ही नहीं उठती। यह 'शत-प्रतिशत अस्वीकार' का दर्शन कभी अस्तित्त्ववाद का चेहरा लेकर आता है तो कभी नव्य मार्क्सवाद का (क्लासिकल मार्क्सवाद से भिन्न)य और ये दोनों मानसिक-बौद्धिक स्तर पर मौसेरे भाई हैं। ये एक ही ह्रासोन्मुखी संस्कृति की संतानें हैं। योगशास्त्र में मन की पाँच अवस्थाएँ कही गई हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त, विमूढ़, निरुद्ध और आरूढ़। ये दोनों दर्शन विमूढ़ स्थिति के दो भिन्न संस्करण हैं, अतः दोनों त्याज्य हैं।

यह बाढ़-वन्या का काल है। नदी अपनी दिशा भूलकर, कूल छोड़कर उन्मुक्त हो गई है, अतः बुद्धजीवी वर्ग से धीरता और संयम अपेक्षित है। घबराकर वन्या की पथभ्रष्ट धार के प्रति आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा जल के उत्तरण, वन्या के 'उतार' की प्रतीक्षा करना अधिक उचित है। पानी हटने पर नदी फिर कूलों के बीच लौट जाएगी। नदी अपनी शय्या यदि बदल भी दे, तो भी नई शय्या के साथ कोई कूल, कोई अवरोध तो उसे स्वीकार करना ही होगा। यह नया कूल भी उसी पुराने कूल के ही समानान्तर होगा। नदी तब भी समुद्रमुखी ही रहेगी। उलटकर हिमाचलमुखी कभी नहीं हो सकती। अतः इस वन्या नाट्य के विष्कंभक के बीच का समय मैं न तो बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ और न बहुत चिंताजनक। मैं बिल्कुल अविचलित हूँ। मेरा विश्वास है कि कल नहीं तो परसों हम अर्थात पुरानी पीढ़ी का युवा और मेरे बालखिल्य छात्र-छात्राएँ अर्थात नई युवा पीढ़ी, दोनों मिलकर इस शासन एवं व्यवस्था के पुतलीघर की नृत्य कन्याओं के कत्थक नृत्य को साथ-साथ संचालित करेंगे। यह पुतलीघर ऐसा है कि इसमें अनुशासित संयमित तालबद्ध कत्थक ही चल सकता है। अन्यथा जरा भी छंद पतन होने पर कोई न कोई भयावह पुतली एक ही झपट्टे में हड्डी आँत तक का भक्षण कर डालेगी क्योंकि इन पुतलियों में से कोई-कोई विषकन्याएँ भी हैं। अतः मैं चेष्टा करूँगा कि अपने अंदर की अमृता कला का आविष्कार करके इस उत्तराफाल्गुनी काल को बीस बाइस वर्ष के लिए अपने अंतर में स्थिर अचल

कर दूँ, बाहर-बाहर चाहे शरद बहे या निदाघ हू-हू करे। तब मैं अपने बालखिल्य सहचरों के साथ व्यवस्था की इन पुतलियों का छंदोबद्ध नृत्य भोग सकूँगा। और एक दिन वह भी आएगा जब कोई चिल्लाकर मेरे कानों में कहेगा 'फाइव ओ' क्लाक! पाँच बज गए!' कोई मेरे शीश पर घंटा बजा जाएगा, कोई मेरे हृदय में बोल जायगा–श्बहुत हुआ। बहुत भोगा। अब नहीं। अब, अहं अमृतं इच्छामि। अहं वानप्रस्थ चरिष्यामि।' और तब मैं व्यवस्था के पुतलीघर की इन यंत्रकन्याओं से माफी माँगकर उत्तर-पुरुष की जय जयकार बोलते हुए मंच से बाहर आ जाऊँगा और अपने को विसर्जित कर दूँगा लोकारण्य में, खो जाऊँगा अपरिचित, वृक्षोपम, अवसर प्राप्त, रिटायर्ड स्थाणुओं के महाकांतार में। पर अभी नहीं। अभी तो मैं विश्वेश्वर के साँड़ की तरह जवान हूँ।

भाषा बहता नीर

श्भाषा बहता नीर'। भाषा एक प्रवाहमान नदी। भाषा बहता हुआ जल। बात बावन तोले पाव रत्ती सही। कबीर की कही हुई है तो सही होनी ही चाहिए। कबीर थे बड़े दबंग और उनका दिल बड़ा साफ था। अतः इस बात के पीछे उनके दिल की सफाई और सहजता झाँकती है, इससे किसी को भी एतराज नहीं हो सकता।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति है कबीर की उक्ति की भी, 'संस्कृत कूप जल है, पर भाषा बहता नीर।श' भाषा तो बहता नीर है। पर 'नीर' को एक व्यापक संदर्भ में देखना होगा। साथ ही संस्कृत मात्र कूप जल कभी नहीं है। कबीर के पास इतिहास-बोध नहीं था अथवा था भी तो अधूरा था। इतिहास-बोध उनके पास रहता तो 'अत्याचारी' और 'अत्याचारग्रस्त' दोनों को वह एक ही लाठी से नहीं पीटते। खैर, इस अवांतर प्रसंग में न जाकर मैं इतना ही कहूँगा कि संस्कृत की भूमिका भारतीय भाषाओं और साहित्य के संदर्भ में 'कूपजल' से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वस्तुतः उनके इस वाक्यांश, 'संस्कृत भाषा कूपजल' का संबंध भाषा, साहित्य से है ही नहीं। यह वाक्यांश पुरोहित तंत्र केघ खिलाफ ढेलेबाजी भर है जिसका प्रतीक थी संस्कृत भाषा। इस संदर्भ में 'संस्कृत कूप जल' वाली बात भ्रामक है। और दूसरे अंश 'भाषा बहता नीर' से संयुक्त होने के कारण अनेक भ्रमों की सृष्टि करती है। और कबीर की भाषा-संबंधी 'बहता नीर' सं संयुक्त होने के कारण अनेक भ्रमों की सृष्टि करती है। और कबीर की भाषा-संबंधी 'बहती नीर' वाली 'थीसिस'

स्वीकारते हुए भी समूचे कथन के संदर्भ में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है।

संस्कृत कूपजल मात्र नहीं। उसकी भूमिका विस्तृत और विशाल है। वह भाषा-नदी को जल से सनाथ करने वाला पावन मेघ है, वह परम पद का तुहिन बोध हैं, वह हिमालय के हृदय का 'ग्लेशियर' अर्थात् हिमवाह है। जब हिमवाह गलता है तभी बहते नीर वाली नदी में जीवन-संचार होता है। जब उत्तर दिशा में तुषार पड़ती है तो वही राशिभूत होकर हिमवाह का रूप धारण करती है। जब हिमवाह पिघलता है, जो नदी जीवन पाती है, अन्यथा उसका रूपांतर मृतशय्या में हो जाता है। हिमालय दूर है, हिमवाह नजरों से ओझल है, पर जानने वाले जानते हैं कि यह तृषातोषक अमृत वारि जो गाँव-नगर की प्यास बुझाया हुआ सागर-संगम तक जा रहा है, हिमालय का पिघला हुआ हृदय ही है। यदि यह हृदय-कपाट बद्ध या अवरुद्ध हो जाए तो नदी बेमौत मारी जाएगी। ऐसा कई बार हुआ है। एक दिन था जब सरस्वती नदी हरियाणा अंचल से बहती हुई सिंध में जाकर सरजल में मिलती थी। परंतु बाद में उसको पोषित करने वाले ग्लेशियरों का मुख भिन्न-दिशा में हो गया, वे सरस्वती से विमुख होकर यमुना में ढल गए, आज भी यमुना की ओर ही वे जल-दान प्रेरित कर रहे हैं। फलतः यमुना लबालब हो गई, सरस्वती की मृत्यु हो गई (आज की यमुना में ही सरस्वती का जल प्रवाहित है। पर साधारण मनुष्य को भूगोल की इतनी बारीक जानकारी नहीं। अतः धार्मिक दृष्टि से त्रिवेणी संगम पर एक कल्पित अंत-सलिला का प्रतीक सरस्वती कूप बना दिया गया।) वस्तुतः सरस्वती का जल अब भी हम पा रहे हैं, परंतु इस जल का अब गोत्रनाम 'यमुना जल' है।.. हिमवाह के अतिरिक्त नदी के बहते नीर का दूसरा स्रोत हैं परम व्योम में विचरण करने वाले मेघ। पर बरसाती नदियों के लिए ही। बड़ी नदियों का जल स्रोत तो हिमवाह है। तो कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत 'कूपजल' नहीं, भाषा और संस्कार दोनों की दृष्टि से यह हमारे बोली और जीवन के प्रवाहमान रूपों के लिए व्योम-मेघ या हिमवाह स्वरूप है। हिंदुस्तानी आकाश में मेघ है, हिंदुस्तानी हिमालय का हृदय निरंतर गल रहा है, इसी से हिंदुस्तानी जलधाराओं में मीठा बहता पानी निरंतर सुलभ है। इसी तरह देखें तो कहना पड़ेगा कि संस्कृत एक प्राणवान स्रोत के रूप में भाषा-संस्कृति आचार-विचार पर दृष्टि से अस्तित्वमान है। इसी से 'यूनान, मिस्र, रोम' के मिट जाने पर भी हम नहीं मिटे हैं। हमारा अस्तित्वमान है। हमारा अस्तित्व कायम है।'

यों कबीर की बात जो पाजिटिव (हाँ - धर्मी) अर्थ है उसे मैं शत-प्रतिशत मानता हूँ कि लेखन में बोलचाल की भाषा का प्रयोग लेखन को स्वस्थ और सबल रखता है। एक उचित संदर्भ में प्रयुक्त होने पर यह बात बिलकुल सही है। परंतु जब इसी बात का उपयोग हिंदी को जड़-मूल से छिन्न (रूटलेस) करने के लिए बदनीयती से किया जाता है तो बात आपत्तिजनक हो जाती है। संदर्भ बदल देने से किसी भी बात का स्वाद और प्रहार भिन्न हो सकता है।

जब 'भाषा बहता नीर' का उपयोग कूट तर्क के लिए फिराक गोरखपुरी या कुछ नए लोग भी (जो खुद तो वैसी ही भाषा लिखते हैं जैसे हम और आप) करते हैं तब ये इस बात को एक दुराग्रह के रूप में परिणत कर देते हैं। अतः कबीर की बातों का केवल सत्यग्राही अर्थ ही मुझे मंजूर है, चाहे यह बात हो या कोई और बात। स्वयं कबीर ने संस्कृत का उपयोग किया है अपनी भाषा में। कबीर बहुत बड़े आदमी हैं। उनके खिलाफ कुछ कहना छोटे मुँह बड़ी बात जैसी हिमाकत होगी। परंतु कबीर भी कहीं न कहीं जाकर 'आम आदमी' ही ठहरते हैं और 'संस्कृत भाषा कूपजल' वाली बात उसी 'आम आदमी' की खीझ है जबकि दूसरा वाक्यांश खीझ नहीं एक सूझ है। मैं भी मानता हूँ कि भाषा बहता नीर है, भाषा मरुतप्राण है, खुले मैदान की ताजी हवा है, भाषा चिड़ियों के कंठ से निकला 'राम-राम के पहर' में सबेरे का कलरोर है, पशुओं के कंठ से रँभाता हुआ आवाहन है, उसका हुंकार है, लोलुप श्वापदों के कंठ से निकला महातामसी गर्जन भी है। भाषा बच्चे की तोतली बोली भी है, माँ की वात्सल्य-भरी साँसें भी हैं, विरह-कातर शोक-उच्छ्वास भी है और मुदितचक्षु सुख के क्षणों का मौन-मधु भी है। वज्र की कड़क से लेकर शब्दहीन मौन तक के सारे सहज स्वाभाविक व्यापारों को भाषा अपने स्वभाव से धारण करके चलती है। इसी भाषा को वाक रूपा कामधेनु या भगवान मानकर वंदित किया है।

'देवी वाचमजयंत देवाः तां विश्वरूपा पशवो वदंति' (अथर्व शीर्ष)। इसी बात को कबीर आदिभूत 'जल' के बिंब का आश्रय लेकर कहते है, 'भाषा बहता नीर' और यह सर्वथा युक्तिपूर्ण बात है। परंतु किसी भी सार्वभौम सत्य की तह में तह होती है। अतः क्रय-विक्रय हाट-बाजार एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं से बाहर आकर जब हम साहित्य-सर्जना के स्तर पर आते हैं, इस सार्वभौम सत्य 'भाषा बहता नीर' के सारे अंतर्निहित पटलों को खूब समझकर ही हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। मैंने कबीर के इस भाषा-सिद्धांत को अपने लेख में इसके

'सतही अर्थ' में नहीं बल्कि 'सर्वांग अर्थ' में ही स्वीकृत किया है। मैंने अपने लेखन में न केवल बाजारू हिंदी बल्कि भोजपुरी से भी, जो मेरी अपनी बोली है, शब्द मुहावरे, भंगिमाओं की अभिव्यक्ति को माँग के अनुसार बेहिचक ग्रहण किया है। मैंने पूर्वी यू.पी. यानी गंगातीरी काशिका क्षेत्र की लोक-संस्कृति को केंद्रित करके एक पुस्तक लिखी है 'निषाद बाँसुरी'। इस किताब में मैंने भारतवर्ष की पुनर्व्याख्या करने की चेष्टा कह है, आर्येतर तत्त्वों पर जोर देकर। लोक-संस्कृति के विभिन्न दिकों को प्रस्तुत करते समय गाँव-देहात की शब्दावली का मैंने बेहिचक प्रयोग किया है। कबूतरबाजी, अड्डाबाजी, चोरी, नौकायन के शब्दों से लेकर गाँव-देहात के अनेक मुहावरे उसमें आ गए हैं। उसमें ही नहीं, बल्कि संपूर्ण लेखन में मैंने शब्द-संपदा को महत्व दिया है। जो शब्द जन-समाज के कंठ से निकला है, वह कभी भी, कहीं भी, 'अपवित्र' नहीं। अपवित्र या अश्लील स्वयं शब्द नहीं होते, बल्कि संदर्भ या उद्देश्य अपवित्र या अश्लील होते हैं, ऐसा मैं मानकर चलता हूँ।

अत: 'भाषा बहता नीर' एक सही कथन होने के साथ-साथ सतही नहीं, गंभीर कथन है। इस कथन की गंभीरता पर जरा विचार करें। क्या यह 'बहता नीर' महज आज का यानी 1981 का ही 'बहता नीर' है। इतनी स्थूल और सतही दृष्टि से सोचना कबीर के एक महावाक्य को पुन: लँगड़ा और बौना कर देगा होगा। 'भाषा बहता नीर' है तो इसमें किसी भी युग, किसी भी क्षेत्र का शब्द अंतर्भुक्त हो सकता है। शर्त यही है कि (1) अभिव्यक्ति की माँग उस शब्द की हो, (2) वह शब्द वाक्य में सहजता से खप जाए, देवता के प्रसाद की पवित्र थाली में रखा हुआ 'आमलेट' जैसा विश्री न लगे, (3) अल्प प्रयत्न के बाद ही समझ में आ जाए। यों तीसरी शर्त का क्षेत्र भी संदर्भ के अनुसार निर्धारित हो सकेगा। हर जगह 'दो आने तंबाकू दो' जैसी सरल बोधगम्य अभिव्यक्ति से काम नहीं चल सकता। परंतु हमारा आदर्श सहजता और बोधगम्यता ही होना चाहिए। बिना जरूरत भाषा को दुरूह करना कबीर के इस महावाक्य की प्रकृति के प्रतिकूल होगा। पर जहाँ जरूरत हो, वहाँ भाषा के समग्र प्रवाह से, सर्वकालव्यापी प्रवाह से शब्द लेने का हमारा अधिकार होना चाहिए। जो हमें इस अधिकार से वंचित करने के लिए कबीर की इस बात का सीमित बौना अर्थ लगाते हैं, वे किसी कूट मतलब से ऐसा कर रहे हैं। सर्वदा 1981 के बाजार में चालू शब्दों से ही हमारा काम नहीं चल सकता। लेखक फिल्मकार नहीं, वह शिक्षक भी है। उसका कर्तव्य जनमानस को ज्यादा से ज्यादा समृद्ध करना है।

और इस दृष्टि से वह नए शब्द अपने पाठकों को सिखाएगा ही। उसका दायित्व फिल्म-निर्माता के व्यवसायी दायित्व से बड़ा है।

कहने का तात्पर्य यह कि भाषा को अकारण दुरूह या कठिन नहीं बनाना चाहिए। परंतु सकारण ऐसा करने में कोई दोष नहीं। गोसाईं जी जब दार्शनिक विवेचन करने बैठते हैं तो उसी 'मानस' की भाषा में ऐसी पंक्तियाँ भी लिखते हैं, 'होइ घुणाक्षर न्याय जिमि, पुनि प्रत्यूह अनेक।श' या कबीर को खुद जरूरत पड़ती है तो योगशास्त्र और वेदांत की शब्दावली ग्रहण करते हैं। हर जगह लुकाठी हाथ में लिए सरे बाजार खड़े ही नहीं मिलते। मानसरोवर में डूबकर मोती ढूँढ़ते समय की भाषा बाजार वाली भाषा नहीं। एक आधुनिक गद्य से उदाहरण दूँ और क्षमा किया जाए कि अपने ही लेखन से उद्धृत कर रहा हूँ। 'मैंने नदी की ओर अनिमेष लोचन दृष्टि से देखा।' यहाँ पर 'अनिमेष और लोचन' को क्षमा कर देने पर भी पाठक पूछेगा, यह 'अनिमेष' लोचन दृष्टि क्यों? क्या 'अनिमेष लोचनों से देखा' पर्याप्त नहीं होता? मेरी समझ में पर्याप्त नहीं होता? पहली बात तो मुझे यह लगी कि वाक्य की अंतर्निहित लय एक और शब्द माँगती है, अतः 'दृष्टि' शब्द मैंने भर दिया। दूसरी बात यह है कि 'लोचनों' अर्थात् दो लोचनों से देखना। यह दृष्टि के घनीभूत एकीकरण का बोध नहीं देती जो अनिमेष-लोचन दृष्टि देती है, दोनों आँखों का संयुक्त बल लेकर उपस्थित 'एक' दृष्टि के रूप में। परंतु यह दोनों कारण उतने सटीक नहीं भी लिए जा सकते हैं पर तीसरा और मूल कारण ऐसा लिखने का यह है कि 'अनिमेष लोचन-दृष्टि' बौद्ध साहित्य में उस दृष्टि का नाम है जिससे बुद्ध ने पहली बार बोधिवृक्ष को निहारा था। थके, हारे, निराश गौतम बुद्ध ने जब महाअरण्य के बोधिवृक्ष पर पहली नजर डाली तो लगा कि यही वृक्ष उनका परम आश्रय है, यहीं पर परम विराम है, और परम शांति है और उसे वे निर्निमेष निहारने लगे। 'मैंने नदी की ओर अनिमेष-लोचन-दृष्टि से देखा' में ऐसे ही विशिष्ट रूप से निहारने की क्रिया का संकेत है, नदी को परम आश्रय, परम प्रियतमा, परम देवता के रूप में ग्रहण करते हुए। इतना बड़ा भाव ही वहाँ अव्यक्त रह जाता यदि मैं लिखता, 'मैंने अनिमेष लोचनों से देखाश' या 'मैंने एकटक नदी की ओर देखना शुरू कियाश'। यों बिना इस गूढ़ अर्थ को जाने भी वाक्य को समझा जा सकता है। इसलिए मैंने इस बिंब का प्रयोग करने में कोई हानि नहीं देखी-आखिर ये शब्द तो हिंदी के 'बहता नीर' के ही अंग हैं, कोई 'जर्फरी तुफरी' तो नहीं जो कोई न समझे और निबंधकार का काम होता है पाठक के मानसिक-बौद्धिक क्षितिज का विस्तार। वह फिल्म प्रोड्यूसर नहीं कि पाठक की बुद्धि-क्षमता की पूँछ को

पकड़े-पकड़े चले। साहित्यकार पाठक की उँगली पकड़कर नहीं चलता, बल्कि पाठक साहित्यकार की उँगली पकड़कर चलता है। सनातन से यही संबंध रहा है, आज जनवादीयुग का सस्ता नारा उठाकर इस संबंध को परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

'बाढ़ें कथा पार नहिं लहऊँ'। अतः अंत में मुझे यही कहना है कि हिंदी की भूमिका आज बहुत बड़ी हो गई है। उसे आज वही काम करना है, जो कभी संस्कृत करती थी और आज जिसे एक खंडित रूप में ही सही अंग्रेजी कर रही हैं उच्च शिक्षित वर्ग के मध्य। उसे संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है, उसके अंदर वैसी आंतरिक ऋद्धि-सिद्धि लानी है, जो भारत जैसे महान और विशाल देश की राष्ट्रभाषा के लिए अपेक्षित है। अतः 'बहता नीर' का चालू सतही अर्थ न लेकर उसे एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा, जिसका आभास ऊपर दिया जा चुका है। सधुक्कड़ी और चुनाव-भाषणों से ज्यादा बृहत्तर दायित्व है इस हिंदी का। यह स्मरण रखते हुए हम भाषा के संबंध में चिंतन करें तो अच्छा होगा। जिसको हम 'बहता नीर' मानकर ग्रहण कर रहे हैं, वह वस्तुतः हिमालय का दान है, हिमालय के पुत्र हिमवाहों का दान है और अनंतशायी समुद्र की वाष्प-लक्ष्मी का दान है। नदी तो माँ ही है, अतः उसको नमोनमः पर साथ ही दिशिदेवतात्मा हिमालय को नमोनमः, उसके पुत्र बलशाही हिमवाहों को नमोनमः, और सिंधु एवं व्योम को भी नमोनमः, साथ ही नदी की अनेक धाराओं, उपधाराओं और सहायक नदियों, रामगंगा-गोमती-बेसी-मंघई-तमसा और सरयू को नमोनमः। अर्थात् हिंदी की आंचलिक बोलियों को, भोजपुरी, मगही, अवधी, छत्तीसगढ़ी, ब्रजभाषा आदि-आदि को हम इस 'बहता नीर' का अंग ही मानते हैं। पीका, सीका, बेहन, गाछ, पुली, गुदारा, (भा भिनुसार गुदारा लागा) जैसे शब्द खड़ी बोली के पास कहाँ हैं! धरहर, अदहन, पगहा जैसे भोजपुरी शब्दों का प्रयोग मैंने किया है। 'पगहा' अर्थात जो 'चरण' (गति) को ही ध्वस्त कर दे, अपहृत कर ले यानी पशु के बाँधते की रस्सी। ऐसे अभिव्यक्तिपूर्ण शब्द खड़ी बोली में मिलने दुर्लभ हैं। हम न केवल आंचलिक बोलियाँ, बल्कि अगल-बगल की भाषाओं से यथा पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, असमिया, बँगला, से भी शब्द और मुहावरे ले सकते हैं। 'दूर के ढोल सुहावने' के साथ-साथ असमिया 'पहाड़ दूर से ही सुंदर लगात है' भी मजे में चल सकता है।

❐❐❐